साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना का स्वरूप - एक अध्ययन

A STUDY ON POLITICAL CONSCIOUSNESS IN HINDI NOVELS SINCE 1960

THESIS

SUBMITTED TO

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

FOR THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY

हेरमन पी.जे.

HERMAN. P.J.

Prof. (Dr) P.A. SHEMIM ALIYAR
Head of the Department

Prof. Dr N. MOHANAN
Supervising Teacher

DEPARTMENT OF HINDI

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

KOCHI - 682 022

2006

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried of by **Mr. Herman P.J.** under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university.

DEPARTMENT OF HINDI
Cochin University of Science and Technology
Kochi-682 022

Dr. N. MOHANAN
(Professor)
Supervising Teacher

PLACE Kochi
DATE 27.02.2006

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of **Dr. N. MOHANAN**. Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682 022, and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

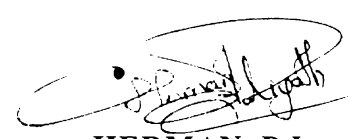

HERMAN. P.J.

DEPARTMENT OF HINDI
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682022

Place Kochi
Date 27.02.2006

पुरोवाक्

प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की नींव राजनीति है। उसके बिना शासन व्यवस्था का सुचारु संचालन असंभव है। वह कुछ मूल्यों पर सृजित शास्त्र है जिसके मूल में मानव राशी के स्वस्थ एवं सुरक्षित जीवन का लक्ष्य परिलक्षित है। जो राजनीति मानवहित को लक्ष्य करके देश के शासन तंत्र को चलाती है वह देश और जनता को प्रगति की तरफ ले ही जाएगी। भारत में अनेक राजनीतिक दल है उनके अपने अपने दर्शन हैं। वे उन के तहत पजातंत्र को चलाने का प्रयत्न करते रहते हैं। जब तक वे राजनैतिक मूल्यों के तहत शासन कार्य संभालते रहते हैं तब तक देश में शांति बनी रहेगी। जब वे मूल्य च्युत हो जाते हैं याने मूल्यों का ईमानदारी से पालन नहीं करते तब वे देश में आतंक एवं अशांति फैलाने में ही सक्षम रह जाते हैं।

राजनीति और राजनीतिक चेतना में स्पष्ट अंतर है। राजनीति में प्रत्येक दल का अपना सिद्धांत होता है, उसी के तहत वे योजनाएँ बनाते हैं। लेकिन राजनीतिक चेतना का मतलब है देश के अतीत एवं वर्तमान का समग्र बोध तथा भविष्य के बारे में सुव्यवस्थित दृष्टिकोण। याने राजनीतिक चेतना व्यावहारिक राजनीति से भिन्न उदात्त चिंतन है जिसके मूल में सिद्धांतों की बजाय आम आदमी की चिंता अधिक सक्रिय है। स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में राजनीतिक चेतना से संपन्न कुछ रचनाओं का प्रवेश हुआ है। इनका

मकसद तो यह दिखाना था कि स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व राजनीति के क्षेत्र में जिन जिन महान मूल्यों को स्थान दिया जाता था उनका क्रमिक ह्रास स्वाधीनता परवर्ती भारतीय राजनीति में होने लगा है। यह राजनीति शुद्ध व्यावहारिक राजनीति थी। उसका लक्ष्य जन हित नहीं था। सिर्फ अपने दल के हित को साधना मात्र था। इसलिए भ्रष्टाचार, अनैतिकता, बेईमानी जैसी असामाजिक वृत्तियों का आधिपत्य राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय होने लगा। यह वास्तव में जनता को या देश को सही दिशा दिखाने वाली राजनीति नहीं थी। राजनीति के इस बदलते हुए तेवर को देखकर बुद्धिजीवियों ने उसके खिलाफ अपना प्रतिरोध सख्त भाषा में व्यक्त किया है। स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी उपन्यास इसका साक्ष्य है। बहुत सारे उपन्यासकार स्वाधीनता परवर्ती राजनैतिक पतन के खिलाफ अपनी असहमति प्रकट करते हुए अपनी सुस्पष्ट मानसिकता को व्यक्त किया है। ऐसे बहुत सारे उपन्यास हुए हैं जिनका लक्ष्य भ्रष्ट राजनीति से जनता, देश और प्रजातंत्र को बचाना ही था। ऐसे उपन्यासों का विश्लेषणात्मक अध्ययन ही इस शोध प्रबंध का उद्देश्य है। अध्ययन की सुविधा केलिए इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है जैसे, हिन्दी उपन्यास और राजनीतिक चेतना, देशविभाजन और राजनीतिक चेतना, आपातकाल और राजनीतिक चेतना, नारीमुक्ति आन्दोलन और राजनीतिक चेतना, दलित आन्दोलन और राजनीतिक चेतना। अंत में उपसंहार।

पहला अध्याय है हिन्दी उपन्यास और राजनीतिक चेतना। इस अध्याय में राजनीति और साहित्य का अंर्तसंबंध स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के मतानुसार राजनीति को परिभाषित करने का प्रयास किया है। स्वतंत्रता पूर्व तथा स्वतंत्रता परवर्ती सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विश्लेषण

साथ हिन्दी उपन्यास की राजनीतिक चेतना के रूपायन के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालने का कार्य भी इस अध्याय में किया गया है।

देशविभाजन और राजनीतिक चेतना इस शोध प्रबंध का दूसरा अध्याय है। देश विभाजन भारत के इतिहास का काला अध्याय है। कुछ सत्ता लोलुपों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के हेतु धर्म का सहारा लिया था। धर्म का उपयोग जब स्वार्थ केलिए किया जाता है तब वह सांप्रदायिकता बन जाता है। वास्तव में हिन्दुस्तान को भारत और पाकिस्तान में विभाजित करने के पीछे आम आदमी की कोई इच्छा नहीं थी। विभाजन सिर्फ सत्तालोलुप लोगों का कारामात था। यशपाल द्वारा लिखित 'झूठा सच' भीष्म साहनी का 'तमस' राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' एवं 'टोपी शुक्ला' कमलेश्वर के 'लौटे हुए मुसाफिर' एवं 'कितने पाकिस्तान' यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'एक और मुख्यमंत्री' जैसे उपन्यासों के संदर्भ में राजनीतिक चेतना के तहत संपूर्ण मानवीयता के अपमान के यथार्थ का पर्दाफाश किया गया है।

'आपात्काल और राजनीतिक चेतना' शीर्षक तीसरे अध्याय में आपात्काल तथा उससे जुडी समस्याओं का अनुशीलन किया है। भारत विभाजन के समान आपात्काल भी भारतीय इतिहास की एक अवाँछित घटना थी। मनुष्य के सभी स्वातंत्र्य को समाप्त करके पूरे भारत में दुश्शासनों का ताण्डव हुआ था। राही मासूम रज़ा का 'कटरा बी आर्जू', यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'प्रजाराम' मुद्रा राक्षस का 'शांति भंग' निर्मल वर्मा का 'रात का रिपोर्टर' धीरेन्द्र अस्थाना का 'समय शब्द भर नहीं है' आदि उपन्यासों के द्वारा यह साबित हुआ है कि आपात्काल की घोषणा के पीछे स्वार्थता के अलावा और कोई कारण नहीं था। सभी नैतिक मूल्यों का संहार करते हुए किसी न किसी प्रकार सत्ता पर बने रहने के सत्ताधारी लोगों के अनैतिक आचरण का ही परिणाम था आपातकाल।

इस शोध प्रबंध का चौथा अध्याय है नारी मुक्ति आन्दोलन और राजनीतिक चेतना। स्वतंत्र भारत में नारी राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं परिवार में, दफ्तर में सब कहीं शोषित है। लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नारी की जीवन दृष्टि ही बदल गई है। वह पुरुष के साथ कंधे से कंधे भिडाकर आगे बढने केलिए सक्षम बन गई हैं। यही नहीं उसने पहचान लिया कि देश के भविष्य को निर्धारित करने में उसकी वही भूमिका है जो पुरष की है। इस आत्म पहचान का परिणाम है नारी मुक्ति आन्दोलन। मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' एवं 'आल्मा कबूत्तरी' चित्रा मुद्गल का 'आवाँ' रमणिका गुप्ता का 'सीता' जैसे उपन्यासों के ज़रिए नारी के इस बदले हुए स्वरूप को विश्लेषित करने का कार्य इस अध्याय में किया गया है।

दलित आन्दोलन और राजनीतिक चेतना इस शोध प्रबंध का पाँचवाँ तथा अंतिम अध्याय है। दलित आन्दोलन भी नारी मुक्ति आन्दोलन के समान आत्म पहचान का परिणाम है। उसका साहित्य है दलित साहित्य। इस अध्याय में दलित साहित्य की व्याख्या तथा दलित साहित्य में निहित दलित चेतना को पकड पाने का प्रयास किया गया है। जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर' मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व' सत्य प्रकाश का 'जस तस भई सबेर' जैसे उपन्यासों के ज़रिए दलित साहित्य की मानसिकता एवं राजनीतिक दृष्टि का विश्लेषण हुआ है।

उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों को संक्षेप में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रो.डॉ. एन. मोहनन जी के दिशा निदेशन में संपन्न हुआ है।

उनके मन की विशालता तथा सौहार्दपूर्ण गंभीर व्यक्तित्व ने ही मुझे यहाँ तक पहुँचने को सक्षम बनाया है। उन्होंने मेरे प्रति असीम प्रेम दिखाया है। उनके प्रति शब्दों में कृतज्ञता अर्पित करना मेरेलिए नामुमकिन है। मैं ईश्वर से उन्हें मंगलमय जीवन की प्रार्थना करता हूँ। प्रिय गुरुवर मैं आप को तहे दिल से प्रणाम करता हूँ। आगे भी मुझे जीवन में सही रास्ता दिखा देने की कृपा करें।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के सृजनात्मक साहित्य के निदेशक एवं हिन्दी विभाग के प्रो. ए. अरविन्दाक्षन के प्रति मैं आभारी हूँ। उन्होंने तहे दिल से मेरी काफी मदद की है। उनके बहुमूल्य सलाहों एवं सुझावों से ही मेरा यह शोध कार्य सार्थक हो पाया है। इस मंजिल तक पहूँचने केलिए वे सदैव मुझे प्रेरणा देते रहे हैं। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की अध्यक्षा प्रो. डॉ. षेमीम् अलियार जी के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उन्होंने इस शोध कार्य को सार्थक बनाने में मुझे काफी प्रेरणा दी है। उनके बहुमूल्य सुझाव एवं सलाह इस शोध कार्य का पाथेय रहे हैं। उनके प्रति मैं सदैव आभारी रहूँगा।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के प्रो.डॉ. षण्मुखन् पुलापट्टा मेरे इस शोध कार्य के विषय विशेषज्ञ रहे हैं। उन्होंने मेरी काफी मदद की है, उनके बहु मूल्य सुझाव एवं सलाह से मेरा यह शोधकार्य सार्थक हो पाया है। उन्होंने मेरे प्रति असीम स्नेह दिखाया है। मैं उनके प्रति आभारी हूँ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. शशिधरन जी के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उन्होंने समय समय पर मुझे अपने बहुमूल्य सुझावों से इस अध्ययन को सार्थक बनाने में काफी मदद की है।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ। उन्होंने इस शोध कार्य को सुगम बनाने केलिए काफी सहयोग दिए हैं।

आइ.एस.आर.ओ. उपग्रह केन्द्र, बैंगलूर, के हिन्दी अधिकारी श्री. एम. के. कोच्चुनारायणन के प्रति मैं आभारी हूँ। उन्होंने मेरे प्रति असीम स्नेह और वात्सल्य दिखाया है।

उपग्रह केन्द्र, बैंगलूर के कार्मिक व सामान्य प्रशासन के प्रधान सी. उण्णिकृष्णन, वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी श्री. आर. एच. अरविन्द के प्रति भी मैं आभारी हुँ कि जिन्होंने मुझे इस शोध कार्य में काफी प्रेरणा दी है।

उपग्रह केन्द्र, बैंगलूरु के वर्तमान हिन्दी अधिकारी डॉ. जी.आर. श्रीनाथ एवं मेरे सहयोगी श्रीमति. एस. सुजाता कुमारी, श्रीमति नलिनी प्रकाश, श्री. सी.एल. अखिलेश और श्री. वेंकटेश के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

समाकलित मत्स्यिकी परियोजना, कोच्ची के निदेशक आदरणीय जी. हसन मणिक्फान उप निदेशक श्रीमति डॉ. एस. गिरिजा, संपर्क एवं लेखा अधिकारी श्री. के गोपी. और कार्यालय अधीक्षक श्री. रवीन्द्रन नायर के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हुँ जिन्होंने मेरे इस शोध कार्य को संपन्न करने मे काफी प्रेरणा दी है।

मैं अपने सभी मित्रों के प्रति आभारी हूँ कि जिन्होंने मेरे इस शोधकार्य को सार्थक बनाने केलिए काफी मदद की थी। मेरे मित्र सजी कुरुप्, मनोज, सजीव वावच्चन, सोलजी, विजयकुमार, राजन, प्रदीप, प्रकाशन सभी का मैं इस अवसर पर स्मरण कर रहा हूँ।

मेरे प्रिय पिताश्री एवं माताश्री के प्रति मैं आभारी हूँ। उनके असीम प्यार एवं प्रोत्साहन मुझे निरंतर प्रेरणा देते रहे हैं और मुझे इस मंजिल तक पहुँचने की ताकत दी। यह शोध प्रबंध उनके आशीर्वाद का फल है।

मेरे प्रिय भाई, भाभी और प्रिय बहन के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उनके असीम प्रेम और प्रेरणा ने ही मुझे आगे बढाया है।

मैं अपनी प्रिय पत्नी और पुत्र के प्रति आभारी हूँ कि उनके असीम प्यार, सहयोग एवं प्रेरणा के बिना यह शोध कार्य संपन्न नहीं हो पाता था।

यह शोध प्रबंध मेरी स्वर्गीय इकलौती पुत्री बेबी मेरी को समर्पित करता हूँ।

यह शोध प्रबंध मैं बडी विनम्रता के साथ विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसकी कमियों तथा गलतियों केलिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग पी.जे. हेरमन
कोच्चिन 22

विषय प्रवेश

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय
राजनीतिक चेतना और हिन्दी साहित्य 1 - 47

राजनीति : एक पहचान - स्वतंत्रता पूर्व सामाजिक परिस्थिति - स्वाधीनतापूर्व राजनीतिक परिवेश बंगाल का अकाल - अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अंग्रेजी शिक्षा प्रेस का विकास भारत में मुद्रण की शुरूआत ब्रह्म समाज आर्य समाज रामकृष्ण मिशन -स्वामी विवेकानन्द - तियोसोफिकल सोसाइटी - विभिन्न राजनीतिक दल राष्ट्रीय कांग्रेस स्वतंत्रता प्राप्ति स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना प्रेमचन्द और राजनीतिक चेतना - पूँजीवाद एवं साम्यवाद गाँधीवाद का प्रभाव - यशपाल - साम्प्रदायिकता का चित्रण - कांग्रेज की आलोचना मार्क्सवाद का प्रभाव - भगवती चरण वर्मा - स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक परिस्थितियाँ - स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक परिस्थितियाँ (1947-60) स्वाधीनोत्तर राजनीतिक परस्थितियाँ और हिन्दी उपन्यास।

दुसरा अध्याय
देश विभाजन और राजनीतिक चेतना 48 - 96

देश विभाजन की नींव साम्प्रदायिकता का जन्म - विभाजन की त्रासदी भाईचारा का अंत विभाजन और हिन्दी उपन्यास झूठा सच मानव का दानव रूप सच्चाई की खोज आधा गाँव आधा गाँव की राजनीतिक चेतना तमस सांप्रदायिक विभीषिका का अनावरण घटनास्थल का चयन हिन्दु-मुसलमान-सिक्ख के बीच बढती दरार अंग्रेज़ी कूटनीति सांप्रदायिक शोषण भारतीय मुसलमानों के विचार सामाजिक ढाँचा राजनीतिक दलों की कपटता एक और मुख्यमन्त्री साम्राज्यवाद की आलोचना साम्प्रदायिकता का उल्लेख साम्प्रदायिक सदभावना की अपेक्षा देश भक्त मुसलमानों का समर्थन कितने पाकिस्तान गलत विचारधारा का परिणाम इतिहास का विश्लेषण अदालती खोज उपनिवेशवादी दौर का असर नारी की स्थिति लौटे हुए मुसाफिर - अलगाव वादी विचार का फैलाव।

तीसरा अध्याय

आपातकाल और राजनीतिक चेतना **97 - 142**

कांग्रेस का विघटन बंगला देश का निर्माण इन्दिरा गांधी का पतन और आपात्काल की घोषणा - आपातकाल की पृष्ठभूमि - नक्सलबाड़ी आन्दोलन और आपातकाल आपात्काल की असलियत आपातकाल की प्रेरणा प्रजातंत्रीय शासन मर्यादा का उल्लंघन आपात्काल और सी.पी.आई (एम) पत्रकारिता और आपात्काल - आपात्काल और पुलिस आपात्काल एवं नसबन्दीकरण आपतकाल का समर्थन कटरा बी आर्जू पुलिस का अमानवीय व्यवहार शान्ति भंग - रात का रिपोर्टर - समय शब्द भर नहीं है।

चौथा अध्याय

नारी मुक्ति आन्दोलन और राजनीतिक चेतना **143 - 189**

नारी मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ प्रथम स्त्री आन्दोलन एवं प्रारंभिक स्त्री संगठन हिन्दी प्रदेश में स्त्री - आन्दोलन - स्त्री शिक्षा - स्त्री आन्दोलन के मुख्य आधार गांधीजी और स्त्री आन्दोलन - नारी की हैसियत और उपन्यास - अल्मा कबूतरी सभ्यता का कुरूप चेहरा - व्यक्ति को शिखंडी बनाने वाला समाज संघर्षरत एवं शोषित नारीयों का प्रतीक - नारी संघर्ष के विजय की शुरुआत चाक सामाजिक व्यवस्था के शिकार बनती नारी - प्रतिशोध करने वाली नारी की प्रतिनिधि परिवर्तित नारी संकल्प - शोषण का समाधान - नारी का सत्ता में प्रवेश संघर्षरत नारी चेतना का स्वरूप आँवां आधुनिक परिवेश में समायोजित होती नारी अस्मिता - स्त्री विमर्श का मूल आधार - श्रमिक संगठन तथा नेताओं की भूमिका - श्रमिक संगठनों में अपेक्षित परिवर्तन - नारी मुक्ति का वास्तविक अर्थ - सीता - संघर्षरत वर्तमान सीता का प्रतीक - वर्तमान राजनीति में नारी का स्थान संसद में स्त्री आरक्षण वास्तविकता।

पांचवाँ अध्याय

दलित साहित्य और राजनीतिक चेतना **190 - 250**

दलित साहित्य से मतलब दलित साहित्य का समर्थक साहित्य दलित साहित्य का उद्देश्य दलित आन्दोलन दलित चेतना दलित साहित्य में राजनीतिक चेतना वर्तमान शासन व्यवस्था में दलितों की राजनीतिक

स्थिति गैर दलित साहित्य की पृष्ठभूमि-छप्पर दलितों का शोषण अन्धविश्वासों के खिलाफ दलित विचार दलितोद्धारण सामाजिक पतन की व्यवस्थाएँ दलित चेतना का जागरण जस तस भई सवेर सामाजिक अंधविश्वास एवं दलित शोषण मानवीय संबन्धों पर अन्धविश्वास एवं शोषण का प्रभाव आरक्षण और दलित विचार सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध दलित आक्रोश परिवर्तित दलित चिंतन मुक्तिपर्व गुलामी का तिरस्कार धार्मिक भावना और रूढियों का उल्लंघन आर्यसमाज और दलित मुक्ति शिक्षा के क्षेत्र में दलित परिवर्तित दलित चेतना और दलित मुक्ति बाबा साहब और दलित मुक्ति आन्दोलन शिक्षा के क्षेत्र में दलित के साथ अन्याय शिक्षा का महत्व और दलित मुक्ति पिछडेपन की असलियत।

उपसंहार **251 - 257**

सन्दर्भ ग्रंथ सूची **258 - 269**

....🕮....

पहला अध्याय

राजनीतिक चेतना और हिन्दी साहित्य

पहला अध्याय

राजनीतिक चेतना और हिन्दी साहित्य

साहित्य और राजनीति में परस्पर संबंध है कि वे एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे से तरंगित एवं प्रभावित रहते हैं। वे लोक मंगल को भावना की नींव पर खडे हैं। समाज को खुशहाल रखने को कोशिश अपने-अपने ढंग और साधनों से दोनों ही करते रहते हैं। इसलिए अज्ञेय जी ने कहा "साहित्य और राजनीति को दो पृथक और विरोधी तत्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के इस संघर्ष-युग में वह मूर्खतापूर्ण सा ही है।"[1] यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि जीवन और साहित्य एक दूसरे से उसी भांति आश्रित है जैसे जीवन और राजनीति। राजनीति अपने कार्यक्रमों एवं नीतियों को प्रस्तुत करती है, सत्ता केलिए संघर्ष करती है, लेकिन साहित्य सत्ता केलिए सीधा संघर्ष नहीं करता। वह वास्तविक जीवन को देखता है, भोगता है, अनुभव प्राप्त करता है और जनता की मानसिकता, संवेदना एवं युगीन चेतना तथा संघर्ष को वाणी देता है। वह जीवन की वास्तविकता के कलात्मक बिम्बों की सर्जना करता है। साहित्य में यह ज़रूरी नहीं है कि जनता की ज़िन्दगी और उसकी समस्यायें रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित हो। वे कभी दृष्टिगोचर होती हैं कभी नहीं, लेकिन राजनीति में यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष है।

---

1. अज्ञेय त्रिशंकु पृ. 63

जीवन की विविध समस्याओं का समाधान खोजते हुए साहित्य जन जीवन का उतना निकट आ गया है कि अब साहित्य और राजनीति को अलगाना नामुमकिन हो गया है। दोनों सक्रिय रूप से सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हैं जिसका समान धरातल है मनुष्य जीनव। अतः साहित्य "केवल निष्क्रिय मानसिक रसास्वादन की वस्तु नही हो सकता, साहित्य का भी सामाजिक उत्तरदायित्व हे और वह दायित्व केवल 'श्रुति स्मृति सदाचार' की रक्षा करने का दायित्व नहीं है। केवल प्रचलित श्रेणी विशेष द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुगमन का दायित्व नहीं है, समाज के ढाँचे को आमूल बदल देने का दायित्व है।"[1]

साहित्य समाज का जीवन्त दस्तावेज़ है। क्यों कि समाजिक जीवन ही व्यक्ति साहित्यकार का मूल स्रोत होता है। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। वह जिस समाज में रहता है, जीता है, सांस लेता है, उस सामाजिक परिवेश और वातावरण से अवश्य प्रभावित होता है। इस दृष्टि से सृजन एक सामाजिक दायित्व भी है। तभी वह श्रेष्ठ कला की कोटी में पहूँच जाता है। इसीलिए क्रिस्टोफर काडवेल ने कहा, "कला या साहित्य एक सामाजिक कार्य कलाप है। यह कोई मार्क्सवादी माँग मात्र नहीं बल्कि कला के उद्‌भव एवं रूपायन के विभिन्न सन्दर्भों से स्पष्ट है कि सभी प्रकार की कला का सुस्पष्ट सामाजिक दायित्व है। सिर्फ कलाकार की फैंटसियाँ कला नहीं हो सकती वे तभी कला बन सकती हैं जब उन्हें समाज से स्वीकृत संगीत, शब्द, बिम्ब, प्रतीक आदि से सुसज्जित कर दिए जाते हैं। कोरे शब्दों से संगीत नहीं बनता उसकेलिए उन्हें समाज से स्वीकृत उपकरणों एवं मापनियों से गुज़रना अनिवार्य है। इससे साहित्य की सामाजिक संसक्ति असन्दिग्ध हो उठती है। समाज को लेकर साहित्यकार का जो दिशाबोध बनता है वही उसके साहित्य का

---

1. महेन्द्र चरण राय मार्क्सवाद और साहित्य पृ. 197

दृष्टिकोण भी बन जाता है।'[1] इस दृष्टि से देखें तो साहित्य एक सामाजिक प्रक्रिया है जिस में अपने समय का यथार्थ अनावृत ही नहीं होता बल्कि वर्तमान और भविष्य को लेकर अपना स्पष्ट मंतव्य भी संप्रेषित होता है। साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध भी उतना ही पुराना है जितना मनुष्य के सामाजिक जीवन का इतिहास है।

साहित्य हो या राजनीति दोनों तभी शुभ बनते हैं, जब वे लोक मंगल के रास्ते से अग्रसर होते हैं। समाज को निराशा के अन्धकार से निकालकर आनन्द की रोशनी में नहलाने का काम अगर साहित्य और राजनीति के द्वारा संपन्न होता है तो वही समाज केलिए मंगल कारक होता है। समाज के यथार्थ चित्रण और उनकी आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करना साहित्यकारों की रचना धर्मिता का लक्ष्य होना ही चाहिए। राल्फ फाक्स ने इस मत का समर्थन करते हुए कहा है, "साहित्यिक अपने कर्तव्य का तभी निर्वाह कर सकता है, जब कि वह जीवन का गहराई से अध्ययन करे, वह समाज की जीवन सरिता में ऊपरी तट पर संचरित होने वाली प्रवृत्तियों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखे, अन्तः सलिला सरस्वति की भांति नीचे रहकर प्रच्छन्न रूप से कार्य करनेवाली शक्तियों का भी अध्ययन करे, यह अध्ययन जन जीवन से अलग रहकर नहीं किया जा सकता; अपनी रचनाओं में उसे समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा,

---

1. Christopher coudwell Study in a Dying culture - P 44

"Art is a social function. This is not a marxist demand, but ariser from the very way in which art forms which have a conscious social function. The phantasies of a dreamer are not art. They only become art when they are given music, forms of words, when they are clothed in socially recognised symbols, and of course in the process there is a modification. No chance sounds constitute music, but sounds selected from a socially recognised scale and played on socially developed instruments."

जनता की मूक अभिलाषाओं को वाणी देनी होगी, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन प्रदायिनी शक्तियों का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग दर्शन करना होगा।"[1]

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि वर्तमान जीवन संदर्भ में राजनीति के माध्यम से ही किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव है। लेकिन परिवर्तन की भूमिका या मानसिकता का निर्माण या संयोजन का कार्य साहित्य द्वारा ही संपन्न होता है। सच्चाई यह है कि आज की जनता वर्तमान सामाजिक विसंगतियों को दूर करने केलिए राजनीति पर ही भरोसा रखती है। इस राजनीति का साहित्यिक मूल्य तब सफल हो जाता है जब नए समाज के निर्माण केलिए प्रयत्नशील जनता की आशा-आकांक्षा एवं सुख-दुख को सही मायने में साहित्य व्यक्त करता है। इससे साहित्य का लक्ष्य भी स्पष्ट एवं प्रासंगिक बन जाता है।

राजनीति : एक पहचान

'राजनीति' शब्द को सम्यक् रूप से परिभाषित करना कोई आसान कार्य नहीं है। साधारण रूप से राजनीति का अर्थ समाज और देश व्यवस्था की नीतियों का सत्ता द्वारा निर्धारण से ही लिया जाता है। लेकिन समकालीन सन्दर्भ में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है जैसे कि, मुहल्ले की राजनीति, महाविद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय की राजनीति, कार्यालय की राजनीति, विधानसभा, लोक सभा चुनाव की राजनीति, वाचन की राजनीति, धर्म की राजनीति, उपनिवेशवाद की राजनीति, युद्ध की राजनीति आदि। मसलन राजनीति शब्द का बहु सन्दर्भी प्रयोग के कारण वह आज सर्वव्यापक हो गया है।

---

1. राल्फ फाक्स नावल एन्ड द पोपुल पृ. 90

प्राचीन भारत की शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार 'राजनीति' शब्द संस्कृत के 'राज' और 'नीति' के योग से हुआ है। 'राज' एवं 'नीति' का अर्थ 'ले जाना' है। अतः 'राजनीति' का अर्थ राज्य के सम्यक संचालन से है। लेकिन 'राजनीति' शब्द अंग्रेज़ी शब्द 'पोलिटिक्स' का हिन्दी अनुवाद भी है। यह शब्द युनानी के 'पोलिस' शब्द से व्युत्पन्न है, जिसका सही अनुवाद नगर राज्य है। इसका भावानुवाद 'नगर समुदाय' है।

जोसफ ड्यूनर के मत में 'पोलिस' नगर को काफी ऊँचाई से देखने तथा आत्मरक्षा केलिए निर्मित किले बन्दी का स्थान है। लगभग 2600 वर्ष पूर्व एथेन्सवासियों ने एक ऐसे ही पहाडी किला 'अफ्रो पोलिस' का निर्माण किया था। सार्वजनिक मामलों पर विचार-विमर्श केलिए वे वहीं एकत्र होते थे। यही पोलिस शब्द धीरे-धीरे एक संगठित समाज या एक ऐसी शक्ति केलिए प्रयुक्त किया जाने लगा जो दूसरी शक्तियों या समुदायों से सम्बन्ध स्थापित करने में लगी हो। इस प्रकार पोलिस को नगर और नगर के आस-पास बसे लोगों के ऐसे समूह को समझा जाने लगा जो वास्तविक या काल्पनिक रक्त-संबधों से बंधा, सामूहिक सुरक्षा केलिए संगठित एवं समूह के सदस्यों तथा उनके आश्रितों के मध्य सम्बन्धों को सुव्यवस्थित रखता हो, उसमें धार्मिक पूजन, क्रीडा तथा कला की समान सुविधा तथा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में श्रम-विभाजन का भाव भी निहित था।"[1] इस से स्पष्ट होता है कि पोलिस याने कि 'नगर समुदाय' राजनीति की दृष्टि से सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ संघ था जिसका उद्देश्य आत्मनिर्भर एवं सुसंगठित समुदाय में सुव्यवस्थित जीवन सुनिश्चित करना था।

---

1. जोसफ ड्यूनर डिक्शनरी आफ पोलिटिकल सायंस, 1984 इंट्रोडक्शन

विद्वानों के विचारों में एक रूपता के अभाव के कारण 'राजनीति' की परिभाषा और संकीर्ण बन गई है। कुछ विद्वानों ने राजनीति को नैतिकता एवं कला से संबन्ध स्थापित करने की कोशिश की है। अतःऑनेस्ट बार्कर ने कहा "राजनीति नैतिकता का ही व्यापक रूप है।"[1] लेकिन समकालीन सन्दर्भ में राजनीति का नैतिकता से कोई व्यापक लगाव प्रतीत नही होता। आज के बदले हुए परिप्रेक्ष्य में 'राजनीति' एक युद्धहीन संघर्ष है जिसमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी समस्याएँ सुलझायी जाती है। वान डायक केलिए राजनीति एक संघर्ष है जो सार्वजनिक समस्याओं को सुलझाने केलिए किया जाता है। "राजनीति एक क्रिया है, वह सार्वजनिक समस्याओं पर कर्ताओं के मध्य द्वन्द्वात्मक इच्छाओं की पूर्ती केलिए किया गया संघर्ष है।"[2]

राजनीति को परिभाषित करते हुए पाश्चात्य विद्वान ईस्टन ने कहा कि "वे समस्त प्रकार की गतिविधियाँ राजनीति हैं, जो सामाजिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन में अंतग्रस्त होती हैं।"[3] लेकिन राजनीति को केवल नीति निर्माण की सीमा में नियंत्रित रखना न्यायसंगत नहीं लगता। वास्तविकता यह है कि 'राजनीति' नीति निर्माण के अतिरिक्त मूल्यों का सृजन एवं पालन करके जन जीवन को स्वस्थ एवं सुगठित करने का कार्य भी करती है। समूहों के बीच होने वाले संघर्षों, झगडों के निष्पादन करने में यह अहम भूमिका निभाती है। राजनीति की भूमिका कभी इससे भी अधिक बढ़ जाती है याने कि "राजनीति समझौता करती है, विवाद शांत करती है और कभी कभी द्वन्द्वात्मक हितों और निष्ठाओं से ऊपर उठ जाती है।"[4]

---

1. अर्नेस्ट बार्कर द पोलिटिक्स आफ अरेस्टोटल 1948 का संस्करण पृ. 110
2. वरनॉन वान डायक पोलिटिक्ल साइंस ए फिलोसफिकल एनलाइसिस पृ. 133
3. ईस्टन ए-फ्रेम वर्क फॉर पोलिटिकल एनालाइसीस पृ. 134
4. मेयें डेमोक्रेटिक थियरी सन् 1960 पृ. 6

डॉ श्यामलाल वर्मा राजनीति को परिभाषित करते हुए कहते है कि, "राजनीति शक्ति और प्रभाव संबधी वह गत्यात्मक गतिविधि है जिसके द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति समूह सहयोग एवं द्वन्द्व के माध्यम से अपने उद्देश्यों की पूर्ती केलिए राजनीतिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं एवं क्रिया विधियों की औचित्य पूर्ण सत्ता के प्रयोग का प्रयास करते है।"[1] वर्तमान सन्दर्भ में यही परिभाषा 'राजनीति' केलिए सबसे उपयुक्त एवं संतुलित प्रतीत होती है। 'राजनीति' की व्यापकता तो समकालीन सन्दर्भ में सीमातीत हो गयी है। संक्षेप में कह सकते हैं कि व्यक्ति या समूह के द्वारा संघर्ष या सहयोग के माध्यम से सत्ता के इस्तेमाल केलिए प्रयत्नशील गत्यात्मक गतिविधि ही 'राजनीति' है।

स्वतंत्रता पूर्व सामाजिक परिस्थिति

क्षेत्र विस्तार एवं जनसंख्या की दृष्टि से भारत एक विशाल देश है। सदियों से विभिन्न रीति-रिवाज़, आचार विचार, भाषा-धर्म माननेवाली अनेक जातियाँ इस देश में आकर स्थाई रूप से बस गयी हैं। इस प्रकार जब एक नई जाति भारत आती है तब यहाँ के स्थिर जन-जीवन में एक प्रकार का हलचल या संघर्ष शुरु होता है। कुछ वर्षों के संघर्ष के बाद वह जाति इस विशाल समाज-जीवन की एक और कडी बन जाती है। वर्ण व्यवस्था के प्रभाव से ऐसी जाति को अंतिम वर्ण में स्थान भी मिला जाता है। सदियों से यह क्रम जारी रहा। मुसलमान और अंग्रेज़ ही इस प्रक्रिया में अपवाद के रूप में रहे। दोनों ने हमारी संस्कृति के खण्डन का कार्य किया। उनके राजनीतिक प्रभुत्व ने धीरे धीरे भारतवासियों को मानसिक गुलामी में परिवर्तित किया।

अंग्रेज़ों के राज्य स्थापन के समय इस देश का विशाल जन समूह गाँवों में बसा हुआ था। अंग्रेज़ी शासन में औद्योगिक विकास होने पर भी नब्बे प्रतिशत लोग गाँवों में ही

---

1. डॉ श्यामलाल वर्मा आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत पृ. 15

रहते थे। प्रगति की दृष्टि से यह कृषि प्रधान देश पिछडा ही था। लेकिन 19 वीं शताब्दी तक आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर एवं समृद्ध था। गाँव केलिए आवश्यक वस्तु गाँव में ही उत्पन्न की जाती थी। फुरसत के समय घरेलु काम धन्धा था, जिस से ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी बनती थी। सामजिक एवं अन्य अनेक समस्याओं का हल ग्राम पंचायतों की निराली न्याय पद्धति से किया जाता था।

कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के नष्ट होते ही अनेक जातियाँ और उपजातियाँ अस्तित्व में आयीं। समाज में ब्राह्मण सर्वोपरी रहे। उससे ऊँचनीच की भावना अधिक बढ़ी। युवक वर्ग हमारे सामाजिक कु रीति-रिवाज़ों से खिन्न रहा। हिन्दु धर्म की जडता से ऊबे हुए अनेकों ने ईसाई धर्म को अपनाया। शिक्षितों ने पाश्चात्य फैशन, संस्कृति, भाषा, वाणी व्यवहार आदि का भी अनुकरण किया। नारी जीवन के वे स्वर्ण दिन अब नही रहे, जहाँ वे 'स्वयंवर' में अपने पति स्वयं चुन लेती थीं। बाल विवाह चलता रहा। स्त्री शिक्षा से वंचित रही। सति प्रथा चालू थी। बालविधवायें भी पुनर्विवाह से वंचित थीं। नारी पर अपार अत्याचार होते रहे। इस सन्दर्भ में भारतीय समाज में बहुत सारे आन्दोलनों की शुरुआत हुई। सब का लक्ष्य जनता एवं समाज को सुधारना था। राजा राम मोहनराय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना करते हुए समाज में व्याप्त धार्मिक अंधापन, जाति प्रथा, छुआ-छूत, बाल विवाह, सति प्रथा आदि के खिलाफ तथा स्त्री पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध भी जन मानस को जाग्रत करने का कार्य किया। उसी प्रकार अनेक सुधारकों ने विधवा विवाह का समर्थन किया।

अंग्रेजों के आगमन के बाद विवाह के नियमों में बहुत सारे बदलाव आ गये। हिन्दु समाज में एक पुरुष और अविच्छेतता का आदर्श रहा तो जैनसार बाबर में बहुपतित्व श्रेष्ठ माना जाता था। जब कि मुस्लिम समाज में एक पुरुष चार पत्नियाँ रख सकता था। वेदों में बहुपतित्व की अपेक्षा बहुपत्नित्व को अधिक स्वाभाविक माना गया है। राजाओं

के परिवार में भी बहु पत्नित्व की प्रथा चलती थी। केरल के नम्पूतिरियों में उत्तर भारत के राजपूतों में तथा गुजरात के लेवापाटीदारों में कुलीन ऊर्ध्व-विवाह प्रथा तथा बहुपत्नित्व भी पाया जाता था। पर अंग्रेज़ों के समय इस बहुपत्नित्व की प्रथा को वैधानिक उपायों के द्वारा हटाने का सर्वप्रथम प्रयत्न 1942 ई. के 'विशेष विवाह अधिनियम' (स्पेसल मैरेज ऐक्ट) द्वारा किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले विवाहों में 1961 के "इण्डियन डाइवार्स ऐक्ट' केअन्तर्गत विवाह विच्छेद भी हो सकता था। काफी कमियों के कारण इसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। मद्रास, बड़ौदा और बम्बई जैसे राज्यों ने बहु पत्नित्व के विरुद्ध अधिनियमों को पारित करके नारी को संरक्षण दिया है।

स्वाधीनतापूर्व राजनीतिक परिवेश

सदियों से समाज राजतंत्र को मानता आया था लेकिन परिवर्तन की करवट ने स्थितियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया। शिक्षा के बढते हुए प्रचार एवं प्रभाव के कारण जागरूक मानव अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो उठे। इस विशिष्ट सामाजिक प्रबोधन के समय जनता ने राजतन्त्र से मूँह मोडकर जनतंत्र का स्वागत किया। व्यक्ति की स्वतंत्रता के गीत गाए गए। जनता का विचार नये दृष्टिकोणों की चमक से निखर उठा। परिवर्तन का यह विचार व्यष्टि से समष्टि की ओर इतनी गतिमानता से बढा कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर चिन्तकों को आवाहन किया।

इस युग का राजनीतिक नेतृत्व उदारवादी विचारों से प्रभावित था। वे ब्रिटीश नीति पर विश्वास रखने वाले थे। स्वतंत्रता आंदोलन का सूत्रपात हो चुका था लेकिन वह वैधानिक सुधारों तक ही सीमित था। सर्वमान्य राजनीतिक संस्था "राष्ट्रीय कांग्रेज" थी। विविध राजनीतिक विचारधाराओं के होते हुए भी जनता की आस्था एवं विश्वास का केन्द्र कांग्रेस था। उसके सिद्धांत जनताभिमुख रहे। भारतीय स्वतंत्रता केलिए कटिबद्ध कांग्रेस

अपने उसूलों पर डटी रही, साथ ही साथ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिवर्तनों का अध्ययन विश्लेषण भी उसका लक्ष्य रहा। कांग्रेस का नेतृत्व गोपाल कृष्ण, फिरोज़शाह मेहता जैसे उदारमतवादी नेताओं के हाथ था। लेकिन जनता तथा युग का नेतृत्व लोकमान्य तिलक, लाला लजपतराय, विपिनचंद पाल, अरविंद घोष आदि उग्रवादियों ने संभाला। समाजवादी विचारधारा के बढते हुए प्रभुत्व को देखकर पंडित जवहरलाल नेहरुजी को अध्यक्ष के नाते जिम्मेदारी सौंपी गई। नेहरु नए-पुराने को जोडने वाली कडी थे। वे गांधीवाद और साम्यवाद के बीच एक सेतु की तरह रहे। राष्ट्र में समाजवादी चेतना को बढते देखकर ही कांग्रेस ने खेतिहरों के कार्यक्रमों को हाथ में ले लिया था।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए समाजवादी परिवर्तनों के कारण ही कांग्रेस समाजवादी चिंतन से प्रभावित हुआ था। सन 1936 में सोवियत रूस के नए विधान को स्वीकृति देने केलिए क्रेमलिन में दो हज़ार चालीस प्रतिनिधि इकट्ठे हो गए। डॉ पट्टाभिसीतारामय्या जी ने इसे बहुमुखी राष्ट्रीय उन्नति की अभिव्यक्ति के रूप में निरूपित किया है। उनके शब्दों में "पिछले बारह बरसों में जो आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति हई थी उसकी यह अभिव्यक्ति थी। जरा सी देर में एक विशुद्ध देश, संसार की अत्युन्नत शक्तियों में गिना जाने लगा था, और वहाँ खेती के साथ उद्योगों का भी समान रूप से विकास हो गया था।"[1]

1936 के चुनाव के उपरांत हमारे देश में मंत्रि मंडल बना। कांग्रेस मंत्रि मंडल के स्थापित होने पर भी किसानों और मज़दूरों की स्थितियों में कोई वांछनीय परिवर्तन नही हो पाया। किसानों ने अपना स्वतंत्र संगठन किया। सामान्य जनता में मंत्रिमंडलों के प्रति गहरे असंतोष की भावना जाग उठी। सत्ता-मद से बन्द काँग्रेस कार्यकर्ताओं का नैतिक

---

1. डॉ. पट्टाभिसीतारामय्या,. कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) पृ. 299 प्रथम 1958

पतन भी हो गया। इसी प्रकार के अन्यान्य कारणों से सुभाष चन्द्र बोस ने सन 1938 में अपने 'फारवर्ड ब्लॉक' की स्थापना की। कॉंग्रेस के बीच के आपसी मतभेद आकाश को छूने लगे। राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय जीवन पर गाँधीजी का प्रभुत्व बना रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति तक गाँधीवाद की प्रधानता दिखाई देती है। राष्ट्रवादी आन्दोलन को महात्मा गाँधी जी ने सर्वव्यापी बना दिया जिसमें किसान, मज़दूर, पूँजीपति, वकील, छात्र, महिलाएँ सभी कार्यरत रहे। इस समय की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं 'रोलट ऐक्ट' और 'जालियनवाला बाग' का हत्याकाण्ड।

कांग्रेस के भीतर का मतभेद खुलकर सामने आने लगा। सन् 1931 में द्वितीय महायुद्ध की सूचनाएँ सामने आने लगी थीं। भारतीय राजनीति में भी आमूल परिवर्तनों का सूत्रपात होने लगा। इस युद्ध के प्रारंभ होते ही पूर्व सम्मति के बिना ही वायसराय ने इसमें भारत के शरीक होने की घोषणा कर दी। कांग्रेस ने इस बात का प्रखर विरोध किया और दिसंबर 1931 तक कांग्रेस का मंत्रिमंडल रिक्त हो गया और मंत्रियों ने इस्तीफा दी। सविनय अवज्ञा का प्रमुख सूत्रधार गांधीजी बने। भारत रक्षा कानून के नाम पर सरकार ने कांग्रेस का दमन करना आरंभ कर दिया। दो हज़ार व्यक्तियों को गिरफ्तार कर जनता के अधिकारों पर आघात किया गया। सन् 1943 में पूर्वी क्षेत्र में सुभाषचन्द्र बोस अवतीर्ण हुए। नेताजी जी के नेतृत्व में नाचिकेताओं की टोली ने नई घोषणा दी "चलो दिल्ली"। सुभाष जी के नेतृत्व में 21 अक्तूबर 1943 को 'स्वतंत्र भारत की अस्थाई सरकार' की स्थापना हुई। उसके घोषणा पत्र में कहा गया की अस्थाई सरकार का यह काम होगा कि वह अंग्रेज़ों और उनके साथियों को भारत से निकालने केलिए युद्ध करे। उसके पश्चात् अस्थाई सरकार आजाद हिन्द में लोकप्रिय प्रजातंत्र शासन की स्थापना करेगी। जब तक अंगरेज़ भारत से न निकल जाए और जब तक आज़ाद हिन्द की राष्ट्रीय सरकार मातृभूमि

में स्थापित न हो, तब तक अपने अधिकार में आये हुए प्रदेशों का शासन अस्थाई सरकार भारतीय प्रजा के ट्रस्टी के तौर पर करेगी।

बंगाल का अकाल

महायुद्ध के कारण जन-जीवन अस्तव्यस्त हो गया था। यूद्ध का आतंक और अकाल की भीषण स्थितियों से गुज़रे हुए लोगों के ऊपर प्रकृति का कोप भी आ पडा। ब्रिटीश इन प्रतिकूल परिस्थितियों को जनता का दमन करने केलिए उपयोग करने लगा। सन् 1943 में बंगाल में भीषण अकाल पड गया। सरकार के अनुसार 15 लाख व्यक्ति मारे गए लेकिन अन्य अन्वेषणों से प्राप्त जानकारियों के अनुसार मृतकों की संख्या 34 लाख के करीब थी। पर युद्ध व्यापारियों को मुनाफा ही मुनाफा सिद्ध हुआ। सिर्फ चावल के व्यापार में 150 करोड रुपए तक धन इकट्ठा किया गया। इस अकाल के कारण भारत की जनता का मानसिक संतुलन खो बैठा और उन्हें घोर असंतोष ने घेर लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति

अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिवर्तनों के कारण ब्रिटीशों को अपनी नीतियों में भी परिवर्तन लाना पडा। अमरीका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के आग्रह और संसार के लोकमत को ध्यान में रखकर इंग्लैण्ड भारत के प्रति की अपनी रूख एवं व्यवहार में कुछ नमी लाने केलिए बाध्य हुआ। इसी बीच 1945 में इंग्लैंड में चर्चिल मंत्रिमंडल का पतन हुआ। मज़दूर-दल की विजय हुई। इन कारणों से ब्रिटेन ने अपनी भारत सम्बन्धी नीति में परिवर्तन किया।

अंग्रेजी शिक्षा

यह एक सुविदित तथ्य है कि अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक शासन को सुगमता केलिए ही अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार शुरू किया था। काम चलाने तथा प्रशासन को

मज़बूत बनाने केलिए भारतीय मानव संसाधन को अपनी आवश्यकता के अनुरूप उन्हें तैयार करना वांछनीय था। इस दृष्टि से भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा प्रचार की योजनाएँ बनाई गईं। अंग्रेजों को बाबू लोगों की ज़रूरत थी। व्यापार बढाने तथा कार्यालयीन मामलों में मदद करने योग्य लोगों का गढन ही उनका लक्ष्य था। लेकिन भारत में अंग्रेजी शिक्षा का एक दूसरा प्रयोजन हुआ जिसका कोई अन्दाज़ा अंग्रेजों को नहीं था। अंग्रेज़ी शिक्षा के ज़रिए भारतीयों ने अपनी राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का कार्य किया। इसकेलिए अंग्रेज़ी शिक्षा एक विशाल वातायन बन गई जिससे भारतीयों ने विश्व को देखा समझा और उसके साथ अपनी हैसियत की तुलना की। परिणाम यह निकला कि भारतीयों ने अनुभव किया कि अपना प्रमुख शत्रु अंग्रेज़ी है जिन्होंने उनके वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का हनन किया है। यह भी नहीं भारतीय आधुनिक बनने लगे। उनके विचार बदलने लगे। उनका दृष्टिकोण विकसित होने लगा। फलतः औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष करने की राजनैतिक चेतना जन मानस में अंकुरित हो गयी। गोया कि भारतीय जनता को आधुनिक बनाने, उनमें राष्ट्रीय एवं राजनीतिक चेतना जगाने तथा विश्व परिवर्तन से अभिभूत होकर अपनी हैसियत पर विचार करने की क्षमता प्रदान करनेवाले अनेक तत्वों में एक अंग्रेज़ी शिक्षा था।

प्रेस का विकास

भारत में समाचार पत्रों की शुरुआत अंग्रेजों ने की थी। फिर वह भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति केलिए ही थी। उन्नीसवीं सदी में और बाद में अंग्रेज़ी तथा देशी भाषाओं में भी प्रेसों का उदय हुआ। इन पत्रिकाओं का उद्देश्य व्यक्ति और समाज को सुधारना था। इसलिए उस समय के अधिकांश सुधारकों ने या तो खुद अपनी पत्र-पत्रिकाएँ शुरू की थी नहीं तो वे किसी न किसी पत्र-पत्रिका का संपादक बने रहे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक पहूँचते पहूँचते भारतीयों में राजनीतिक चेतना का समुचित विकास हुआ और देश में

राजनीतिक गतिविधियों की वृद्धि हुई। इन सब में पत्र पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। कुछ ऐसे अंग्रेजी समाचार पत्र तब भी थे जिनके मालिक अंग्रेज़ थे, जो ब्रिटीश शासन के समर्थन करते थे। मगर अधिकांश अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों ने भारतीय जनता की आकांक्षाओं को प्रचरित किया। वे भारतीय जनता की शिकायतों को और उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मांगों को प्रकाशित करते रहे। वे देश विदेश में घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी देते रहे। आज़ादी की लडाई के समय उन्होंने जनता को एकजुड करने की महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ब्रिटीश शासकों ने राष्ट्रीय आंदोलन का दमन किया। उन्होंने कई बार इन समाचार पत्रों को बंद करवा दिया और इनके संपादकों को जेल में डाल दिया।

भारत में मुद्रण की शुरूआत

अंग्रेजों का विचार यही था कि भारतीय जनता के मन में उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने का कोई मौका न मिले । लेकिन बढते व्यापार तथा विस्तृत होते गये प्रशासन क्षेत्र को संभालने केलिए उन्हें मुद्रण की सुविधा अनिवार्य थी। मिशनरियों के द्वारा सोरामपूर में एक निजी मुद्रण शाला स्थापित किया गया था। धीरे धीरे जनता में इसका असर महसूस होने लगा। उन के मन में स्वतंत्रता की भावना तथा उपनिवेश संस्कृति के खिलाफ विद्रोह की चेतना जागृत हुई। पाश्चात्य संस्कृति तथा दर्शन से बेहत्तर है हमारी ही संस्कृति तथा दर्शन, यह विश्वास जनता में दृढ होने लगा। इस प्रकार मुद्रण तथा समाचार पत्र के प्रसार ने जनता के मन में आज़ादी की अनिवार्यता को महसूस कराने की भूमिका निभाई। इसके साथ ही कुछ सुधारवादी संस्थाओं के योगदान भी महत्वपूर्ण रहे हैं।

ब्रह्म समाज

लोगों को अपने अधिकारों के बारे में, सरकार के कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के बारे में समझाने का कार्य शुरू किया था। अंधविश्वासों तथा अनाचारों से जीर्ण हिन्दु धर्म को आधुनिक विचार धाराओं से सुधारने के लक्ष्य से उन्होंने 1828 को ब्रह्मसमाज की नींव डाली। उसका विधिवत् उद्घाटन 1830 जनवरी 23 को किया गया। "ब्रह्मसमाज सभी धर्मों के तथा सारी मानवता के एक ईश्वर की पूजा करनेवाले लोगों की संस्था है। याने कि ब्रह्मसमाज एक सहनशील संस्था थी। जो कि पवित्रता, गुण तथा उदारता का प्रचार करने केलिए कायम की गई थी। उसका उद्देश्य सभी धर्मों, विचारों तथा मतों के अनुयायियों के बीच में एकता लाना था। ब्रह्मसमाज आधुनिक धर्मों के बीच एकता केलिए बनाया गया था।"[1] उन्होंने सती प्रथा, बालविवाह का विरोध किया तो विधवा विवाह का समर्थन किया। जनता को एकत्रित करके जनमानस में स्वाधीनता की कल्पना को जगाने का कार्य भी उनका लक्ष्य रहा। राष्ट्रीयता की यह भावना उन्हें आधुनिक शिक्षा से ही मिली थी। उन्होंने अंग्रेज़ों की अच्छी नीतियों एवं विचारों का समर्थन किया तो उनकी अनीतियों एवं अत्याचारों की खुलकर निन्दा भी की है। इस प्रकार बंगाल को केन्द्र बनाकर भारतीय जनता को सुधारने का प्रयत्न करते समय भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उसी प्रकार की अन्य सुधारवादी संस्थाएँ भी अपना फर्ज निभा रही थीं।

आर्य समाज

भारतीय नवजागरण का और एक पुरोधा व्यक्तित्व थे स्वामी दयानन्द सरस्वति । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंजाब के हिन्दुओं को सुधारने के लक्ष्य को लेकर उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज का उद्देश्य हिन्दुओं को वेदों की

---

1. के.पी. केशवमेनोन नवभारत शिल्पिकल (1972) पृ. 8-9

ओर ले जाना था। वास्तव में ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया का परिणाम था आर्य समाज। धर्म परिवर्तन करने के कारण अक्सर उन्हें अन्य धर्मवालों से संघर्ष करना पडा है। हिन्दु धर्म तथा भावनाओं की रक्षा करने के साथ साथ समाज की स्त्रियों को सम्मान देकर बेहत्तर स्थिति प्रदान करने में भी इस संस्था ने काफी भूमिका निभायी है। निम्न वर्ग की जनताओं की जीवन रीति को सुधारने तथा शिक्षा का प्रचार प्रसार करने में भी आर्यसमाज की भूमिका उल्लेखनीय है।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी दयानन्द सरस्वति के समान भारत भर में प्रभाव डालने वाला दूसरा एक महापुरुष था श्रीरामकृष्ण परमहंस। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उच्चवर्ग के साथ अशिक्षित साधारण लोगों को भी उन्होंने अपनी चिंतन धारा से प्रभावित किया। उनकी साधना भगवद्गीता के भक्ति मार्ग के आधार पर थी। समाज तथा राजनीतिक सुधार में उन्हें रुचि नही थी। उनका लक्ष्य हिन्दु धर्म तथा अन्य धर्मों के विभिन्न भेदभावों का निराकरण करते हुए एक ही सत्य की ओर जाना था। भारतीय जनता पर उस महत् व्यक्ति का अभूतपूर्व प्रभाव पडा। बाद में उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द जी ने भारतीय जनता को एक नये युग की ओर ले जाने का कार्य किया।

स्वामी विवेकानन्द

श्री रामकृष्ण परमहंस के बाद विवेकानन्द जी ने अपने शिष्यों के साथ पूरे भारत में तथा विदेशों में रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ स्थापित की। विवेकानन्द जी अनुपम व्यक्तित्व के धनी थे। निराशाग्रस्त हिन्दुजनता में तथा धर्म में नवजागरण की शंख फूँकने का कार्य उन्होंने किया था। भारत के भविष्य को रूपायित करने योग्य कार्यक्रम की योजना तैयार करके सदियों से उदास रहे भारत वासियों को जगाने के उपक्रम में वे सफल सिद्ध हुए।

तियोसोफिकल सोसाइटी

भारत को अपनी मातृभूमि के समान स्वीकार करके इस देश के सांस्कृतिक जागरण तथा सर्वतोन्मुख विकास केलिए समर्पित महिला थी, आनीबसन्ट। वे तियोसोफिकल सोसाईटी के कार्यकलापों से संबद्ध होकर भारत आयी । उन्होंने कांग्रेस के नेताओं के सामने ऐसा सुझाव रखा कि लोगों में जाति तथा धर्म की दृष्टि से कोई भी भेदभाव नहीं दिखाना चाहिए। सामान्य जनता तथा स्त्रियों केलिए आवश्यक विशेष शिक्षा की योजनाएँ तैयार करना चाहिए तथा सभी वर्ग के लोगों को इंडियन नेशनल कांग्रेस में सम्मिलित करके काँग्रेस को मज़बूत करना चाहिए। लेकिन तत्कालीन कांग्रेस के नेताओं ने इस पर कोई विशेष रुचि नही दिखाई। इस पर उन्हें भारी दुख हुआ और उन्होंने 'ब्रदेरस आफ सरवीसस' नाम के एक संगठन की स्थापना की। कांग्रेस की मितवादी नीति से असंतृप्त होकर उन्होंने कांग्रेस तथा मुस्लीम लीग का एक संयुक्त सम्मेलन आयोजित किया। साथ ही 'होमरूल लीग' नाम के एक संगठन की स्थापना का समर्थन भी किया। भारतीय जनता केलिए आनी बसन्ट की सेवा से चकित अंग्रेजों ने उन्हें पहले मुम्बई तथा बाद में भारत के किसी भी राज्य में प्रवेश करने से रोक लगा दिया। बाद में उन्हें घर बंदी रहना पडा। जनता के मन का द्वेष सम्मेलन, जुलूस आदि के रूप में प्रत्यक्ष होने लगा। भारतवासियों को अंग्रेज़ों से स्वतंत्रता प्राप्त कराने केलिए एक अंग्रेज़ी वनिता होकर भी आनी बसन्ट ने जो सेवा की थी वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

विभिन्न राजनीतिक दल

राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय एवं अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 1936 से 1947 तक का समय अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। द्वितीय महायुद्ध का आरंभ एवं अंत इसी बीच में हुआ था। इसके फलस्वरूप विश्व के सभी राष्ट्रों में अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उत्पन्न

हुईं। भारत में भी इसका महत्वपूर्ण असर पडा। देश में स्वंतंत्रता केलिए प्रभावपूर्ण आन्दोलन जारी रहा तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय इसी काल में ही लिया गया। पर स्वातंत्र्य के साथ विभाजन का घातक कर्म भी इसी समय में हुआ। इस युग में विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपनी प्रत्येक नीति एवं सिद्धांत के तहत योजनाएँ बनाकर जनता को अपनी ओर आकर्षित करके दल को और शक्ति शाली बनाने का प्रयत्न किया। लेकिन इन में से कुछ राजनीतिक अविवेक, कर्महीन दर्शन, संकुचित एवं राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों के कारण अपरिपक्व साबित हुए। पर "मुख्य राजनीतिक दलों में कांग्रेस, मुस्लिम लीग, समाजवादी दल या सोशलिस्ट पार्टी, हिन्दू महा सभा नेशनल लिबरल फेडरेशन और साम्यवादी दल या कम्यूनिस्ट पार्टी आदि उल्लेखनीय है"[1] इन राजनीतिक दलों ने भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये। आग के अध्ययन से हमें उनके कार्यक्षेत्र एवं जनता पर उनके प्रभाव का संक्षिप्त परिचय मिल जाएगा।

1. राष्ट्रीय कांग्रेस

सर ए.ओ. ह्यूम ने ही भारतीयों केलिए राष्ट्रीय कांग्रेस दल की स्थापना 1881 में की। लेकिन कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य भारत के शिक्षित मध्य वर्ग के विश्वास एवं सहयोग प्राप्त करने तथा विद्रोही जन सामान्य के नेतृत्व को अपने ही हाथों में सुरक्षित रखने केलिए था। शुरू शुरू में कांग्रेस के नेतृत्व उदारमतवादी या नरमदलीय नेताओं के हाथ में था। तिलक के स्वराज्य प्राप्ति आन्दोलन तथा श्रीमती आनी बेसंट के होमरूल आन्दोलन ने कांग्रेस में प्राण डाल दिया। रोलट बिल तथा जालियन वाला बाग के हत्याकांड के उपरांत गांधीजी के नेतृत्व में देशव्यापी असहयोग आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन से कांग्रेस एकमात्र जनप्रिय राष्ट्रीय संस्था के रूप में सर्वस्वीकृत

---

1. डॉ. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना पृ. 24

हुआ। सन् 1935 को कांग्रेस ने भारतीय विधान को अमान्य करते हुए वर्तमान सरकार को अपनी शक्ति का परिचय सन 1936 के चुनाव में जता दिया और भारत के अधिकांश प्रांतों में अपना अधिकार जमा लिया। मद्रास, यू.पी. बिहार और उडीसा में तो कांग्रेस का स्पष्ट बहुमत रहा। बंगाल, बम्बई, आसाम तथा सीमा प्रातों में कांग्रेस अकेली सबसे बडी पार्टी बनी।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ होते ही सन् 1939 में वाइसराय ने भारत को भी मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध में सम्मिलित कर दिया। जनता के प्रतिनिधियों की सम्मति लिये बिना भारत को युद्ध में सम्मिलित कराने के इस निर्णय का विरोध किया गया। सरकार से इससे स्पष्टीकरण की माँग की गई। इसके साथ ही भारत के स्वातंत्र्य की स्पष्ट घोषणा एवं प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की भी माँग की गई। पर सरकार के निषेधी रवैये की प्रतिक्रिया में कांग्रेसी प्रांतीय सरकारों ने त्यागपत्र दिया। गाँधिजी ने जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत को विश्व महा युद्ध में घसीटने का विरोध प्रकट करने केलिए व्यक्तिगत-संग्राम प्रारंभ किया। युद्ध-विरोधी भाषण देने के कारण विनोबा भावे, पंडित जवहरलाल नेहरू, सरदार पटेल जैसे प्रसिद्ध नेताओं को देश के विभिन्न भागों में गिरफ्तार कर लिए गये। सत्याग्रहियों से जेल भर गए। गाँधीजी के नेतृत्व में 1942 को भारत छोडो आन्दोलन चलाकर अंग्रेजों के प्रति तथा उनकी नीतियों के प्रति भारतीय जनता का सख्त विद्रोह प्रकट कर दिया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस आम आदमी की वाणी को बुलन्द करने वाला दल बन गया। भारत की स्वतंत्रता केलिए लडने की ताकत सिर्फ उस दल में ही थी। उसकी शक्ति बढती गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति

'भारत छोडो' आन्दोलन से संपूर्ण देश में खलबली मच गई। नेताओं को गिरफ्तार करके सरकार ने देश भर में अपनी क्रूर दमन नीति का परिचय दिया। नेताओं

की अनुपस्थिति में भी तीन वर्ष तक लोग अपने अपने ढंग से सरकार का सामना करते रहे। कभी कभी वे हिंसा के मार्ग पर भी चले हैं। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस फासिस्ट जर्मनी तथा जापान की सहायता से 'आजाद हिन्द फौज' की स्थापना करके अंग्रजों से लडने केलिए भारत की सीमा तक पहुंचे थे। महँगाई ने देश भर की पीडित जनता की कमर तोड दी। शासकों के ही अनाड़ीपन से बंगाल में भीषण अकाल हुआ जिस में तीस लाख से भी अधिक लोग मारे गये। मूल्य नियंत्रण एवं रेशनिंग से प्रजा और भी परेशान थे। राष्ट्र विरोधी मुस्लिम लीग तथा उसके नेता मि. जिन्ना ने साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहित किया। अस्थायी सरकार के प्रधानमंत्री नेहरू के हाथ में सेना न होने के कारण दंगों को रोकना मुश्किल था। इसलिए असंख्य निरीह लोग मारे गए, लूट लिए गए।

उस समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी बदल चुकी थीं। हिटलर की सेनाएं पीछे हट रही थीं। ब्रिटीश सरकार विजय के नशे में थी। पाकिस्तान की माँग बढती जा रही थी। मार्च-अप्रैल 1945 में सभी कांग्रेसी नेता जेल से मुक्त हो गए। 1945 मई में जर्मनी की संपूर्ण पराजय हुई। अमरीका ने जापान के नागसाकी और हिरोशिमा पर महा विनाशक परमाणु बम फेंके। बाद में अगस्त 1945 को जापान ने भी रणनीति को स्वीकार किया। ब्रिटन में युद्ध के बाद जो चुनाव हुआ उसमें चर्चिल सरकार का पतन हुआ तथा लेबर पार्टी सत्ता में आयी। नये ब्रिटीश प्रधान मंत्री मि. क्लेमेण्ट एटली के घोषणानुसार 1946 में चुनाव हूआ। कांग्रेस की विजय हुई। मुस्लिम लीग को भी मुस्लीमों के 75% मत मिले। प्रधान मंत्री के रूप में नेहरू जी के नेतृत्व में प्रथम अस्थाई सरकार ने पद-ग्रहण किया। भारत को हिन्दु राष्ट्र ठहराकर मुसलमानों ने देश भर में साम्प्रदायिक दंगों को प्रोत्साहित किया। अस्थाई सरकार के प्रधानमंत्री नेहरू के हाथ में सेना न होने के कारण दंगों को रोकना असंभव बन गया। साम्प्रदायिक दंगों से तंग आकर नेहरू सरकार ने गाँधिजी की असहमति के बावजूद 'पाकिस्तान' की योजना तथा देश के बंटवारे को स्वीकार कर

लिया। इस प्रकार भारत स्वतंत्र हुआ, एक महादुर्घटना को स्वयं स्वीकारते हुए। यद्यपि अंग्रेजी शोषण से भारत मुक्त हो पाया तथापि भारत के इतिहास में विभाजन अब भी एक काला अध्याय बन कर रहता है। वह कभी न सूखनेवाली चोट के समान गहरा है। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पीछे एक लंबा इतिहास है। संघर्ष का, सहन का, परिवर्तन का, एक लंबा इतिहास। इस लंबी प्रक्रिया से गुज़रते हुए भारत आज़ाद हो गया है। इस लंबे समय तक के सामाजिक हलचल की प्रतिछवियाँ तत्कालीन साहित्य एवं कलाओं में स्पष्टतः देख सकते हैं। साहित्य दरअसल अपने समय का सही दस्तावेज़ होता है, होना चाहिए। स्वतंत्रता पूर्व भारतीय साहित्य इसका सही गवाह है कि उसने अपने समय के हलचलों को अपने में समाहित ही नहीं किया बल्कि जन जागरण, जन चेतना एवं जन संघर्ष को प्रश्रय देने का कार्य भी किया है। स्वाधीनता पूर्व के हिन्दी उपन्यास में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित लगभग सभी सन्दर्भों का खुलासा हुआ है। उस समय की राजनीतिक गतिविधियों का सही दस्तावेज़ है तत्कालीन उपन्यास। उन औपन्यासिक प्रयत्नों पर विचार करना इस सन्दर्भ में अनिवार्य है।

स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना

स्वतंत्रता संग्राम के साथ भारतीय जन जीवन में राजनीति का प्रवेश होता है। फिर इसका प्रभाव गहरा होता गया। स्वतंत्रता को लक्ष्य करके साहित्यकार मंच पर आ गया। अतः तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों को उतारने में रचनाकारों ने काफी उत्साह दिखाया है। प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र, भगवतिचरण वर्मा जैसे अपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का चित्र खींचा है। प्रेमचन्द के जीवन काल में ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विकास चरमोत्कर्ष पर पहूँच चुका था। परिणामतः जीवन साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध अनिवार्यतः तेज होता गया।

प्रेमचन्द और राजनीतिक चेतना

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों एवं कहानियों में अपने समय के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी शासन के खिलाफ चालित संग्रामों का यथार्थ चित्र भी उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त है। लेकिन उन्होंने सांप्रदायिकता के खिलाफ सब से अधिक आवाज़ उठाई है। वे जाति-व्यवस्था के खिलाफ थे, सांप्रदायिकता का सख्त विरोधी थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही साम्प्रदायिकता हमारे देश केलिए एक अभिशाप बन गई थी। मज़बूरी से भारत का विभाजन हो गया था। उस विभाजन से हिन्दु-मुसलमानों के मन में आपसी द्वेष भी उत्पन्न हो गया था। पर उसने कालांतर में भारत के मन और मस्तिष्क को विकृत किया है। प्रेमचन्द ने ऐसे ही साम्प्रदायिक विवाद का विकराल रूप कई रचनाओं के द्वारा हमारे सामने रखा है। साम्प्रदायिकता के विकराल रूप को उन्होंने दर्शाया है।

"आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हक और इन्साफ का नाम न लीजिए। तहसीलदार है तो हिन्दुओ पर टैक्स लगाइए, मेजिस्ट्रेट है तो हिन्दुओं को सज़ाएँ दीजिए सब इन्स्पेक्टर पुलिस है तो हिन्दुओं पर झूठे मुकदमे दायर कीजिए तहकीकत करने जाइए, तो हिन्दुओं के गलत बयान लिखिए। अगर आप चोर है तो किसी हिन्दु नाजनीन को उठाइए तब आप कौम के स्वामिंद कौम के मुहसिन कौमी किसी के नाखुदा सब कुछ है।"[1]

साम्प्रदायिकता के ज़हर के कारण हिन्दु मुस्लिम दोनों का जीवन शांतिहीन एवं संघर्षमय था। प्रेमचन्द ने दोनों के बीच समवाय साधने की गहरी कोशिशें की है। साम्प्रदायिकता पर प्रेमचन्द ने गहराई से विचार किया है और उसके काले कारनामों का परिचय भी जीवन्त शैली में दिया है।

---

1. प्रेमचन्द सेवासदन पृ. 124

"आगरे में हिन्दु और मुसलमानों में आए दिन जूतियाँ चलती रहती थी। जरा-जरा सी बातों पर दोनों दल के सिर फिरे जमा हो जाते थे और दो चार अंग भंग हो जाते थे। कहीं बनिये ने दण्डी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा बोल दिया। कहीं किसी जुलाहे ने हिन्दु का कपडा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और उसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लूट गए, दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लडाई पर सैकडों आदमी घायल हूए, क्यों कि एक सोहन का था दूसरा सईद का। मुसलमानों ने गाली गोला सजाया। ठाकुर द्वार में ईश्वर कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होने लगी। मसजिदों में नमाज़ की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहेब ने फतवा दिया जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाए; उसे एक हज़ार हज्जों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्याख्या मंगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।"[1]

इस प्रकार हिन्दु मुसलमान दोनों समान रूप से धर्म की गलत व्याख्या की आड में एक दूसरे पर आक्रमण करते रहे। यह धर्म निष्ठा नहीं था बल्कि व्यक्ति के अधर्मी होने का परिणाम था। प्रेमचन्द ने इस यथार्थ को भलीभाँति पहचान लिया और इसके खिलाफ अपनी लेखनी चलाई। 'कायाकल्प' 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों में हिन्दु मुस्लिम की समस्या पर चर्चा की गई है। 'कायाकल्प' में हिन्दु मुस्लिम सम्प्रदायिकता का प्रश्न गौ-हत्या को विषय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास का चक्रधर इस प्रश्न को निपटाने केलिए गाँधीवादी प्रणाली स्वीकार करता है। वह हिन्दु तथा मुस्लिम दोनों का जोश कम करने का प्रयत्न करता है। प्रेमचन्द का गांधीवादी अहिंसात्मक चिंतन ही 'कायाकल्प' के चक्रधर के मूँह से निकलता है "मुझे आप पकड सकते हैं कैद कर सकते हैं उससे चाहे आप को शांति

---

1. प्रेमचन्द कायाकल्प पृ. 187-188

हो, पर वह असंतोष अणुमात्र भी कम न होगा, जिस से प्रजा का जीवन असह्य हो गया है। असन्तोष को भडकाकर आप प्रजा को शांत नहीं कर सकते। हाँ उन्हें कायर बना सकते हैं।"[1]

प्रेमचन्द हिन्दु-मुस्लिम में एकता की भावना को विकसित होते देखना चाहते थे। उन्हें स्पष्ट मालूम था कि विदेशी शक्तियों के 'डिवैड एन्ड रूल' जैसी विषैली नीति के कारण ही ये आपस में झगड रहे हैं। दोनों में एकता स्थापित करने केलिए उन्होंने जम कर कोशिश की है। 'कर्मभूमि' का अमर घर से भागकर चमारों की बस्ती में चला जाता है। चमार स्वयं को नीच और अछूत मानते हैं। अमर इस लघुता की भावना को जड़ से उखाड कर फेंकना चाहता है। वह जात-पाँत के बंधनों को न तो मानता है और न उसमें विश्वास ही करता है। उनके मतानुसार जो मनुष्य सच्चा और नेक है वह चमार होने पर भी आदरणीय है और जो दंगाबाज, झूठा या लंपट है वह ब्राह्मण होकर भी नीच और अछूत है। लाला अमरकांत जैसे लोग धर्म को धोखा देनेवाले हैं। इसलिए धर्म की विवेचना करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं "वही ऊँचा है जिसका मन शुद्ध है, जिसने वर्ग का स्वाँग रचकर समाज के एक अंग को माना और दूसरे को म्लेच्छ नहीं बनाया। किसी केलिए उन्नति या उद्दार का द्वार बंद नहीं किया, एक के माथे पर बडप्पन का तिलक और दूसरे के माथे पर नीचता का कलंक नही लगाया।"[2] हिन्दु और मुसलमानों के बीच आपसी मेल जोल और एकता स्थापित करने का प्रयत्न 'काया कल्प' में यशोदानंदन की पत्नी के द्वारा किया गया है कि, "नित्य समझाती रही इन झगडों में न पडो। न मुसलमानों केलिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर ठिकाना है, न हिन्दुओं केलिए, दोनों इसी देश में रहेंगे, इसी देश में मरेंगे, फिरआपस में क्यों लडे मारते हो क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो? न तुम्हारे

---

1. प्रेमचन्द कायाकल्प पृ. 112
2. प्रेमचन्द कर्मभूमि पृ. 204

निगले वे निगल जायेंगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिल जुलकर रहो।"[1] प्रेमचन्द की आंतरिक इच्छा को ही यहाँ यशोदानंदन की पत्नी के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने धार्मिक पाखण्डों के खिलाफ ठोस कदम उठाया है।

प्रेमचन्द ने तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दृष्टि एवं परिवर्तनों के प्रभाव पर भी विचार किया है। समाजवादी चिंतन का प्रभाव यहीं से होता है और प्रेमचन्द इस से प्रभावित हुए। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर के पुत्र मायाशंकर को इसके प्रतिनिधि के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। पूंजीवादी विचारधारा तथा अवसरवादी प्रवृत्ति से मुक्ति पाने केलिए प्रेमशंकर एक नये समाज की स्थापना करना चाहता है। अपने गोद लिये हुए पुत्र मायाशंकर को गायत्री देवी पूँजीवाद से बचाने हेतु इसी प्रेमाश्रम को सुपुर्द कर देती है। वहाँ मायाशंकर समग्र रूप से समाजवादी बन जाता है। आगे चलकर वह एक दिन शासन का अधिकारी भी बन जाता है। समाजवादी चिन्तन से प्रभावित प्रेमचन्द कहते हैं "ताल्लुकेदार इसलिए नहीं कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उडायें, उनके टूटे फूटे झोंपडो के सामने अपना ऊंचा महल खडा करें, उनकी नम्रता को अपने रत्न जटित वस्त्रों से अपमानति करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करें। .....मैं सब सज्जनों के सम्मुख अपने उन अधिकारों और स्वप्नों का त्याग करता हूँ जो प्रथा, नियम और समाज व्यवस्था ने मुझे सौंप दिये हैं।"[2]

पूँजीवाद एवं साम्यवाद

पूँजीवाद को प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' की संज्ञा देना उचित समझा है। भारतीय ग्राम्य व्यवस्था के साथ ही सामन्तवादी सभ्यता नष्ट हो गई और साम्राज्यवादी चेतना के कारण पूँजी वादी विचारधारा विकसित हुई। इस विचारधारा के कारण समाज में

---

1. प्रेमचन्द कायाकल्प पृ. 190
2. प्रेमचन्द प्रेमाश्रम पृ. 241-242

एक नए वर्ग 'मध्यवर्ग' का जन्म हुआ। श्रमिक और पूँजीपति के बीच मध्य वर्ग का भी उदय हुआ। मध्यवर्ग के अन्तर्गत उद्योग के कर्मचारी, छोटे छोटे व्यापारी, माल के साधारण उत्पादक, दस्तकार, किसान, छोटे दूकानदार, सरकारी कर्मचारी तथा अन्य वेतन भोगी लोग आ जाते हैं। प्रेमचन्द भली भांति जानते थे कि समाज में दिख रहे सभी बुरे विचार, भाव और कृत्य दौलत की देन है। महाजनी सभ्यता ने ही इनकी सृष्टी की है, "वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीडित और विजित है, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें। उनकी ओर से तनीक भी विरोध विद्रोह का भाव दिखाया गया तो सिर कुचलने केलिए पुलिस है, अदालत है, कालापानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से नहीं बच सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असंभव है पैसा अपने साथ ये सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसे को मिटा दीजिए, सारी बुराईयाँ अपने आप मिट जायेंगी।"[1]

महाजनी सभ्यता का प्रेमचन्द द्वारा किया गया विश्लेषण अपनी रचनाओं में साफ प्रस्तुत किया है। 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियाँ भारतीय देहात-व्यवस्था के गौरवशाली स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। 'रंगभूमी' गाँव को छिन्न भिन्न करके औद्योगिक सभ्यता के आगमन की सूचना देता है। पूँजीवादी सभ्यता के काले कलंकों को साफ साफ उद्‌घाटित करनेवाला सशक्त उपन्यास है गोदान।

गाँधीवाद का प्रभाव

प्रेमचन्द महात्मा गांधीजी के उपासक थे। गांधीजी के प्रति उनके मन में अनन्य श्रद्धा थी। उन्होंने भारत की सामाजिक स्थितियों के देखते हुए मुख्य रूप से दो बातें बताई हैं। एक तो यह है कि मैं गांधीवादी नहीं हूँ, केवल गांधी जी के 'चेंज ऑफ हार्ट' में विश्वास

---

1. प्रेमचन्द प्रेमाश्रम पृ. 47

करता हूँ। दूसरी बात यह है कि मैं कम्यूनिस्ट हूँ किंतु मेरा कम्यूनिज़म केवल इतना है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि कृषकों के शोषक न रहें, "मेरे पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज है। वह जो चाहते हैं करते हैं इसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"[1] इन शब्दों में प्रेमचन्द के चिंतन स्पष्ट हैं। 'रंगभूमी' में प्रेमचन्द ने महात्मा गांधी जी के अहिंसा दर्शन का समर्थन किया है। अतः सूरदास नामक पात्र की दृष्टि में "सच्चे खिलाडी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं पर मैदान पर डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पडते। खेल में रोना कैसा? खेल हँसने केलिए, दिल बहलाने केलिए है, रोने केलिए नहीं।"[2] इस प्रकार प्रेमचन्द अहिंसा एवं सहन की शक्ति को साबित करते हुए अपनी गाँधी भक्ति प्रमाणित करता है। पर वे गाँधीवादी नहीं थे। वे पूर्णतः कम्यूनिस्ट थे। उनकी कम्यूनिसम में भी यही स्थिति है कि वह वर्ग विहीन समाज व्यवस्था चाहता है, मज़दूरों और किसानों को शोषण मुक्त देखना चाहते हैं।

'मंगल सूत्र' प्रेमचन्द का अंतिम एवं अधूरा उपन्यास है। इसमें प्रेमचन्द गांधीवादी चिंतन के विरोधी दिखाई देते हैं। दुनिया में उच्च नीच तथा घृणित भावों को भरा हुआ देखकर प्रेमचन्द का मन साम्यवाद की ओर झुकने लगता है। प्रेमचन्द के समस्त उपन्यास गांधीयुग में रचित हैं। गांधीयुगीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का चित्र सही ढंग से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत भी किया है। नगेन्द्र के शब्दों में "गांधीयुग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक राजनीतिक आर्थिक और सांप्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी

---

1. श्रीमति शिवरानी देवी प्रेमचन्द घर में पृ. 128
2. प्रेमचन्द रंगभूमि पृ. 138

साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के किसी अन्य साहित्यकार में भी मिलता है इसमें संदेह है।"[1]

यशपाल

राजनीतिक चेतना की दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी के रूप में आंका जा सकता है। राजनीतिक पृष्ठभूमी को अपनाकर उन्होंने अधिकांश उपन्यास लिखा है। यशपाल स्वयं एक विद्रोही व्यक्तित्व थे। जीवन को मार्क्सवादी दृष्टि से समझने का प्रयास उन्होंने किया है। मार्क्सवादी दर्शन को औपन्यासिक अभिव्यक्ति देने का सफल प्रयास यशपाल ने ही किया है। साम्यवादी विचारधारा के प्रति उत्कट आस्था उनके उपन्यासों की सबसे बडी विशेषता है। "उनकी कृतियों का टैकनीक नव्यादर्श का अनुयायी है, तथापि व्यापक समस्याओं और सामाजिक शोषण, उत्पीडित से ही उनके चित्त में संवेदना संचारित होती है, जिससे उनकी कल्पना प्रवणता संकुचित परिधियों को तोड कर विशालतर अमरत्व की भूमिका में अवतीर्ण हो गयी है।"[2] यशपाल की रचनाओं में साम्यवादी विचार धारा की आस्था के साथ साथ एक व्यापक क्षेत्र की संरचना भी मिलती है।

साम्प्रदायिकता का चित्रण

साम्प्रदायिक संघर्ष के कारण भारतीय जनजीवन अस्तव्यस्त हो गया था। मानवता पर मनुष्य का विश्वास नष्ट होने लगा। हिन्दु और मुसलमान का द्वंद्व न केवल दो पक्षों का शारीरिक द्वन्द्व था अपितु दो संस्कारों के बीच का द्वन्द्व था जिसका आयोजन कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ लाभ केलिए किया था। उस संघर्ष में बहुत सारे साधारण निरपराध लोग मार डाले गए। सारी नैतिकता नष्ट हो गई। भारत विभाजन के पूर्व और पश्चात इस

---

1. डॉ नगेन्द्र विचार और विवेचन पृ. 90
2. श्रीमति सचिराणी गुर्ट साहित्य दर्शन पृ. 252

प्रकार की नृशंसता का ताण्डव हुआ था। यशपाल ने इसका चित्रण 'झूठा सच' के प्रारंभिक अंश 'वतन और देश' में चित्रित किया है। इस में खींची गयी राजनीतिक परिस्थितियों के चित्र भयंकर और दर्दनाक हैं। साम्प्रदायिक दंगों में हिन्दु मुस्लिम दोनों समान रूप से समाज में खून की नदियाँ बहाते रहे हैं। अंग्रेजों ने 'डिवाइड एंड रूल' नीति से अपनी सत्ता को पक्का करने की कोशिशें कीं। 'झूठा सच' की साम्प्रदायिक संघर्ष के संबध में ब्रजभूषण सिंह के विचार उल्लेखनीय है। झूठा सच के प्रथम भाग में विभाजन के पूर्व मुस्लिम लीग और कांग्रेस की नितियों का तथा उसके विरुद्ध की ब्रिटीश नीतियों की आलोचना की गयी है। हिन्दु छात्र द्वारा मुसलमान प्रोफेसर को पीटने की घटना को प्रस्तुत करके किस प्रकार समाचार पत्र लोगों की धर्मान्धता को भडकाकर सामाजिक जीवन को अस्तव्यस्त बना डालता है इसका सजीव चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है, "हिन्दुओं और मुसलमानों को दो पृथक जातियाँ मानकर देश का पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में बँटवारा किया गया है। कम्यूनिस्ट जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार को ही संतोषजनक एकता का और देश को बँटवारे से बचाने का उपाय समझते थे।"[1] देश के जातीय संघर्ष को जुटाने केलिए कम्यूनिस्ट सिद्धाँत एक हद तक सार्थक एवं सफल है। इसलिए यशपाल जैसे रचनाकारों ने इस दर्शन को मानवमुक्ति एवं एकता केलिए बिलकुल प्रासंगिक समझ कर उसका प्रसार एवं प्रचार किया था।

कांग्रेज की आलोचना

यशपाल के 'वतन और देश' में पंजाब के सामयिक राजनीतिक वातावरण का, कांग्रेस, लीग और कम्यूनिस्ट पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों का विस्तृत चित्रण किया गया है। कांग्रेस में व्याप्त भ्रष्टाचार पर यशपाल ने निर्ममता से प्रहार किया है। इस

---

1. ब्रजभूषण सिंह आदर्श हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन पृ. 213

सन्दर्भ में 'झूठा सच' के माथुर के शब्द अधिक प्रखर हैं "शक्ति और अवसर हाथ में होने पर अनुचित लाभ उठानेवाला मुझे तो केवल अपवाद रूप में ही दिखते हैं। मैं पूछता हूँ, शासन में चोटी से लेकर पाँव के अंगूठे तक कौन अनुचित लाभ नहीं उठा रहा है? रिश्वत लेकर आदमी अपने बाल बच्चे और कुनबे को ही पालेगा? मुझे बता दो, शासन संभाले लोगों में से किसका कुनबा नहीं पल रहा है? सरकारी नौकर उदाहरण देखकर ही तो चलेंगे।"[1] यशपाल ने तत्कालीन व्यापक भ्रष्टाचार पर भी कटु आलोचना की है। शासन के सर्वोच्च पदाधिकारी भी उस ज़हर से मुक्त नहीं है। जनता का धन फाल्तू योजनाओं में जिस अंधाधुन्ध रीति से खर्च हो रहा है उस पर किसी प्रकार के रोकधाम का कोई उपाय नहीं है। व्यापारी एवं धनिकों की तथा अधिकारी एवं ठेकेदारों की तिजोरियों में धन की मात्रा बढ रही है, श्रमजीवी के श्रम का कोइ मूल्य नहीं है। व्यंग्यात्मक भाषा में यशपाल कहते हैं, "सरकारी रिपोर्टों से उत्पादन बढता है और बाजार में मँहगाई बढती है। हमें तो योजनाओं से कुछ बनता दिखाई नहीं देता। जनता का अरबों रुपया करोडपतियों और सरकारी अफसरों की जेबों में चला जा रहा है। भाखड़ा नांगल जाकर तमाशा देख लो जनता के खर्च पर इतना सिमेंट खरीदा गया है कि भाखड़ा के पचास साठ मील चारों ओर सब मकान सिमेंट से बन गये है। सिमेंट की जगह रेत भरी जा रही है। चवन्नी के जगह रुपये का एस्टिमेट बनता है।"[2]

मार्क्सवाद का प्रभाव

यशपाल मार्क्सवादी चिंतन एवं दर्शन का समर्थक है। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास में उन्होंने अपने मार्क्सवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति की है। श्री विश्वम्भर 'मानव' ने यशपाल के मार्क्सवादी विचारों पर इस प्रकार प्रकाश डाला है, "यशपाल मार्क्सवादी है

---

1. यशपाल झूठा सच पृ. 644
2. वहीं पृ. 644

और इस दृष्टिकोण का प्रभाव उनकी रचना पर भी पडा है। यह भूषण के चरित्र चित्रण से स्पष्ट हैं। इसमें भी संदेह नहीं कि कम्यूनिस्ट पार्टी का परिचय उसने देश की अन्य राजनीतिक पार्टियों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति के साथ दिया है। पर यहाँ प्रचार का अंश बहुत कम है और लेखनी में संयम है। यदि प्रचार कहीं है तो इतना अस्वाभाविक बनकर नही आया कि सहन ही न किया जाये।"[1]

उपन्यासों में यशपाल द्वारा निर्मित घटनाएँ तथा प्रसंग ही मार्क्सवादी चिंतन के प्रचार को पुष्टि देने वाले हैं। अपने सभी पात्रों को यशपाल ने इस प्रकार मार्क्सीय रंग में रंग दिया है कि प्रकृति और प्रवृत्ति से सप्तरंगी महसूस होने पर भी उनका मूल रंग श्वेत ही है। यशपाल की प्रकृति के अनुसार 'मनुष्य के रूप में भी मानवनिर्मित अन्यायों के प्रति गहरा असंतोष तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रखर विद्रोह की भावना का स्पष्टीकरण किया गया है। वास्तविकता का विश्लेषण, नंगे यथार्थ का यथातथ्य वर्णन-चित्रण, बौद्धिक पृष्ठभूमि का आग्रह और इन सब के मूल में 'स्थित मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार प्रसार उपन्यासकार यशपाल की सफलता का वह मानबिंदु है जिसके इर्दगिर्द उपन्यास की समस्त घटनाएँ एवं प्रसंग धूमते नज़र आते हैं। इस प्रकार यशपाल की रचनाओं में एक सच्चे मानवप्रेमी कलाकार को देख सकते हैं जिनके दार्शनिक धरातल मार्क्सवादी मानवतावाद है।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा ने जब 'टेढे मेढे रास्ते' लिखा तब स्वतंत्रता आंदोलन की गति काफी तेज़ थी। लेकिन उसका भविष्य अनिश्चित था। क्यों कि स्वतंत्रता प्राप्ति केलिए संघर्षरत राजनीतिक दलों के मार्ग निश्चित नहीं थे। लेखक ने रचना में भी इस निराशा का

---

1. यशपाल अभिनमंदन ग्रंथ (साहित्य दर्शन) पृ. 101

स्वर मुखरित किया है। यह अवश्य मानना पडेगा कि उपन्यास 1930 के आसपास की राजनीतिक स्थिति को विस्तार से स्पष्ट करने वाला है। इसमें उन्होंने सामंती पिता और पुत्रों के बीच के विरोध की भावना को भी स्पष्ट किया है। राजनीति के क्षेत्र में वर्तमान तीनों वादों-गांधीवाद, आतंकवाद और समाजवाद-को माध्यम बनाकर घटनाओं का संगठन किया गया है।

पंडित रामनाथ के तीन पुत्र इन विभिन्न वादों के प्रतिनिधि पात्र बनते हैं। बडा लडका दयानाथ वकील गांधीवादी है, मँझला विदेशी शिक्षा ग्रहण कर भारत लौटा है जो साम्यवाद से प्रभावित है। छोटा लडका प्रभानाथ एम.ए. उत्तीर्ण कर आतंकवाद के रास्ते को अपना लेता है। पंडित रामनाथ तिवारी साम्यवाद का समर्थक और भारतीय जमींदारों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करनेवाला पात्र है। वे अपने लडकों से भी समझौता नहीं कर पाते। कथानक में तत्कालीन राजनीतिक दलों की गतिविधियों का भी चित्रण है। कांग्रेस के अंतर्गत अनेक मत-मतांतर वाले लोग कार्यरत थे, कम्यूनिस्टों की नीति रूस से प्रभावित थी। क्रांतीकारी दल हिंसात्मक मार्गों का अवलम्ब लेकर ब्रिटीशों से संघर्ष करना चाहते थे। भगवती चरण वर्मा ने इन सभी राजनीतिक दलों के कार्यों को उपन्यास में समेटने का कार्य किया है। पर उनका लक्ष्य कांग्रेस के भ्रष्ट होने के यथार्थ को दिखाना, आतंकवादी वृत्तियों की अप्रासंगिकता को जताना तथा मार्क्सवादी दर्शन की प्रासंगिकता, जन स्वीकृति एवं भ्रष्टाचारिता का अभाव आदि को दिखाते हुए आनेवाले कल की सशक्त राजनीतिक ताकत के उदय को दिखाना भी था।

इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व के उपन्यासों ने अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों का निरीक्षण, विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण को अपना लक्ष्य स्वीकृत किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति केलिए जिस राजनीतिक दल ने संघर्ष किया था वह धीरे धीरे भ्रष्ट हो गया। उसमें सभी कूडे कर्कड आकर जम गए। इसलिए स्वाधीनता परवर्ती सन्दर्भ में कांग्रेस की

तरफ उपेक्षा भाव तथा क्रांतिकारी दल के प्रति लगाव जन मानस में दिखाई देने लगा। स्वाधीनता परवर्ती सन्दर्भ में काँग्रेस का भ्रष्ट रूप और स्पष्ट होने लगा। मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित साम्यवादी दल ज़ोर पकडने लगा। इस प्रकार स्वाधीनता परवर्ती राजनीतिक परिस्थिति बिलकुल बदल गई। कांग्रेस का पतन एक दृष्टि से देश के राष्ट्रीय दल की ट्रेजडी थी तो दूसरी ओर जनता के आत्मविश्वास के नष्ट होने का दृश्य भी था। इस प्रकार उपन्यासकारों ने अपने समय के समाजिक यथार्थ को जनमानस की आशा-अभिलाषाओं को तथा राजनीतिक यथार्थों को अपनी पूरी विशालता के साथ चित्रित करने का कार्य किया है। स्वाधीनता परवर्ती स्थिति में इसका विकसित रूप हम देख सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक परिस्थितियाँ

विश्व के कई राष्ट्रों ने रक्त बहाकर ही स्वतंत्रता प्राप्त की है। पर हमने सत्य और अहिंसा के पथ पर बढकर स्वतंत्रता प्राप्त की है। पर आज़ादी के बाद हमने आधिक रक्त बहाया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत के विभाजन ने मानव जाति के इतिहास का सबसे करुण नाटक प्रस्तुत किया था। उसकी विभीषिका को देखकर कोई भी समझ लेगा कि मानवता मर चुकी है और पूरे भारत में जंगलीपन का नग्न-नृत्य हो रहा है। युगों से जिनके बापदादे से लेकर शांत पड़ोसी रह चुके थे उन्हें विभाजन के बाद अपनी जन्मभूमि छोडकर भागना पडा था। भारत की जनता की सबसे बडी त्रासदी यह भी है कि स्वतंत्र भारत में उन्हें शरणार्थी बनना पडा तथा अपनी जन्मभूमि को छोडकर पराए देश को स्वीकार करने केलिए वे विवश बन गए। भारत सरकार ने शरणार्थियों की बडी सहायता की है। "1959-60 तक 392.14 करोड रुपये पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थियों के पीछे खर्च किये गये थे।"[1] आर्थिक सहायता एवं निवास-निर्माण के अतिरिक्त उद्योग-धंधे

---

1. इण्डियन इकानमिक्स के.के.देवत् एण्ड जी.सी. सिंह. पृ. 703

भी उनकेलिए खोले गये थे। शरणार्थियों में अपहृत स्त्री-बच्चों की समस्या भी थी। धर्मान्ध जंगलियों ने पति से पत्नि, बेटे से माँ, भाई से बहन और सगे-संबन्धियों से नारी को अलग कर उस पर मन-माना अत्याचार किया था। अपहृतों को पुनः सगों से मिलाने का विकट कार्य भी सरकार को करना था। साथ ही युद्धोत्तर परिस्थितियाँ तथा समाज के निम्न-स्तरीय समाज-जीवन के कारण लूट-पाटों, डकैतियों, चोरीयों, चोरबाज़ारियों से सर्वत्र अराजकता बढ रही थीं। सब कहीं स्वातंत्र्य का हनन हो रहा था। रुपया पैसा ही सब कुछ समझा जाने लगा था। अंग्रेज़ शासकों की उपेक्षा नीति के कारण अधिकतर लोगों को प्राथमिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ तक सुलभ नहीं थीं। औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े हुए भारत में कुटीर व लघु उद्योगों की अवस्था भी दयनीय थी। बेकारी, स्वास्थ्य, निवास-स्थान, बढती हुई जन-संख्या, शिक्षा, पिछडे वर्ग, विकलांग आदि की अनेक समस्याएँ देश की प्रगति को चुनौती दे रही थीं। अतः धैर्य, प्रबल पुरुषार्थ तथा वैज्ञानिक आधारों पर स्थित आयोजन के बिना इन सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता था। अतः भारत भी रूस के आदर्श पर योजनाबद्ध विकास द्वारा देशोत्थान की बात सोचने लगा। आर्थिक उन्नति के साथ सामाजिक सेवाओं, जैसे कि पुनर्वास, शिक्षा स्वास्थ्य, पिछडे वर्गों के कल्याण, समाज-कल्याण आदि समस्याओं पर भी सोचा गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामाजिक सेवाओं पर 533 करोड का व्यय किया गया, जो कुल व्यय का 22 प्रतिशत से भी अधिक था। भारत ने 26 जनवरी 1950 के दिन अपना संविधान प्रस्तुत करके प्रजातंत्रीय राज्य-व्यवस्था की घोषणा की, जिससे प्रजा में आत्मविश्वास की भावना बढी। दो आम चुनावों के द्वारा लोगों ने अपनी राजनीतिक जाग्रति का भी प्रमाण दिया। पर 1959-60 ई. में चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो फिर से देश में जागरण एवं एकता की चेतना दिखाई देने लगी।

स्वतंत्र भारत में नारी की स्थिति पहले से अधिक सुधरने लगी। पर ग्रामीण नारियों की स्थिति में काफी सुधार नहीं हो पाया। एक ओर वे पुराने संस्कार एवं रूढियों से ग्रस्त थीं तो दूसरी ओर अशिक्षित। घूँघट-पर्दा की प्रथा के कारण श्रमिक -वर्ग की नारियों के सिवाय कोई स्त्री घर से बाहर काम करने नहीं जाती थी। आर्थिक विवशता के कारण अपवादरूप कुछ उदाहरण मिलते थे। लेकिन नगरों में शिक्षित स्त्रियों की संख्या बढती जा रही थी। अनेक स्त्रियाँ दफ़्तर, स्कूल आदि में काम करती थीं एवं आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो रही थीं। विवाह में भी नारी स्वतंत्र थी, पर्दा प्रथा नगण्य थी। सरकार ने भारतीय नारी की स्थिति सुधारने के लिए अनेक अधिनियमों द्वारा उसकी सामाजिक हैसियत को बढा दिया। संशोधित विशेष विवाह अधिनियम (1954) हिंदु तथा विवाह-विच्छेद अधिनियम (1955) और हिंदु उत्तराधिकार अधिनियम (1956) आदि के द्वारा भारतीय नारी की स्थिति को काफी बदल दिया।

स्वातन्त्र्योत्तर राजनीतिक परिस्थितियाँ (1947-60)

विभाजन के पश्चात् नये राष्ट्र के रूप में भारत को राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय अनेक समस्याओं पर अपनी परिपक्व मताभिव्यक्ति एवं व्यवहार द्वारा विश्व में अपना निश्चित स्थान बनाना था। विभाजन पूर्व ब्रिटीश शासन एवं मुस्लिम लीग दोनों भारतीय राजनीति की शिरोवेदनाएँ थीं। इनके दूर होने पर भी दोनों की परछाइयों का प्रभाव स्वातंत्र्योत्तरकाल में भी हमारे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में बना रहा। ब्रिटेन अपने पीछे राज्य संचालन एवं सेना में अनेक अंग्रेजों को छोड गया, जो हमारी राजनीति के गठन में महत्वपूर्ण योग देने लगे। स्वतंत्रता के बाद भी अंग्रेज़ों की अत्यधिक लोकप्रियता हमारी राजनीति की विचित्र एवं सर्वमान्य हकीकत थी। अंग्रेज़ों को देखकर सभी कृतार्थ हो उठते थे मानो उन्होंने हमें मुफ्त में स्वराज्य दे दिया था। इसका मुख्य कारण इंग्लैण्ड में शिक्षा-प्राप्त व आचार विचार में उन से पूर्ण प्रभावित हमारे ही नेता गण थे। इस प्रकार भौतिक दृष्टि से स्वतंत्र

होते हुए भी हम मानसिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से उन के गुलाम ही रहे। देश में अंग्रेज़ों की भाषा, आचार विचार, जीवन-व्यवहार एवं राजनीतिक संस्थाएँ यथावत् ही बनी रही। विभाजन के बाद हमें आशा थी कि भारत व पाकिस्तान में दृढ संबंध स्थापित होंगे। परंतु पश्चिमी पाकिस्तान में धर्मान्ध पागलों ने घोरतम अमानवीय अत्याचार किये। वहाँ के अधिकतर हिंदु मार डाले गये या भगा दिये गये। जो रहे सो धर्म परिवर्तन के बाद ही रह सके। पूर्वी पाकिस्तान में स्थिति इतनी बुरी नहीं थी पर इसकी प्रतिक्रिया में घोर मानव-वध भारत में भी हुआ। पाकिस्तान से आये शरणार्थियों केलिए भारत सरकार ने करोडों रुपये खर्च किये। हमारे उदार मना गाँधीजी तथा अन्य कांग्रेज़ी नेताओं के कारण यहाँ के मुस्लिमों की स्थिति काफी अच्छी थी। जहाँ भी दंगे होते वहाँ खुद गांधीजी या अन्य नेता पहूँच जाते और शांति स्थापित करते थे। पूर्वी पंजाब एवं दिल्ली में हुए ऐसे दंगों को सरकार ने बडी तत्परता से शांत कर दिये थे। मि. जिन्ना तथा अन्य पाकिस्तानी नेता अपने नारकीय कृत्यों पर पर्दा डालने केलिए भारत का बुरा चित्र विश्व के सामने प्रस्तुत करते रहे।

कांग्रेस दल में रहकर 1947 तक स्वतंत्रता प्राप्ति के दीर्घकालीन आंदोलन में विभिन्न मतावलंबियों ने ब्रिटीश सरकार से टकर ली थी। सत्ता प्राप्ति के उपरांत इन दलों के बीच आपसी संघर्ष स्वाभाविक ही था। क्रांतदर्शी गांधीजी इन सत्ता लोलुपों की आंतरिक कटुता जान गये थे। अतः उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस के विलीनीकरण की सलाह दी थी। पर कांग्रेसियों ने इस सलाह को मंजूरी नहीं दी। धीरे धीरे स्वतंत्र भारत की सशक्त राजनीतिक सत्ता के रूप में काँग्रेस की स्थिति दृढ हो गयी। परिणामतः" प्रथम आम चुनाव में लोकसभा केलिए 471 सदस्य खडा कर दिये गये। जिनमें से 364 निर्वाचित हुए थे। राज्य विधान सभाओं केलिए 3205 काँग्रेसी सदस्यों में से 2247 निर्वाचित हुए। यों कांग्रेस को बहुमत प्राप्त होने पर भी मतदान की दृष्टि से केन्द्र व अधिकतर राज्यों में बहुमत प्राप्त नहीं हो पाया। उसे लोकसभा में कुल मतदान के 45.1 प्रतिशत एवं राज्य

विधान सभाओं में 42.43 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे।"[1] प्रथम आम चुनाव के बाद केंद्र एवं राज्यों में केरल को छोडकर कांग्रेसी सरकारें बनीं। स्वतंत्रता पूर्व तक कम्यूनिस्ट पार्टी को राष्ट्र विरोधी दल के रूप में ही माना गया था। देश में हुए अनेक आग, डकैती, वर्ग द्वेष तथा सैकडों हडतालों के कारण यह दल प्रजा की सहानुभूति गँवा चुका था। परन्तु स्वतंत्रता के बाद रूसी - चीनी विस्तारवादी मनोवृत्ति में परिवर्तन आया। "कश्मीर विवाद, अमरीका की पाकिस्तान को सैनिक सहायता तथा रूसी नेता बुल्गेनिन व खुश्चेव की भारत यात्रा से कम्यूनिस्टों ने अपनी स्थिति दृढ बनाई। साथ ही भारत में अपनी चिंतित स्थिति पर भारतीय कम्यूनिस्ट नेता एस.ए. डांगे, अजय घोष, राजेश्वर राव आदि अपने मोस्को के अधिष्ठाताओं से परामर्श कर नया आदेश लेने के लिए रूस गये थे।"[1] धीरे धीरे एक व्यवस्थित दल के रूप में लोकसभा के प्रथम चुनाव में 26 और द्वितीय चुनाव में 27कम्यूनिस्ट सदस्य निर्वाचित हुए तथा राज्य - विधानसभाओं में भी इसकी स्थिति सुधरने लगी। प्रथम आम चुनाव के तीन मास पूर्व ही डॉ. श्याम प्रसाद मुखर्जी ने 'भारतीय जन संघ' की स्थापना की। डॉ. श्याम प्रसाद मुखर्जी के प्रतिभा संपन्न व्यक्तित्व के कारण हिंदू महासभा, अकालीदल, गणतंत्र परिषद एवं कई स्वतंत्र सदस्यों ने इस दल के साथ मिलकर लोकसभा में विरोधी दलों की 'नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी ' की रचना की।

इस काल में उपर्युक्त दलों के अतिरिक्त हिन्दू-महासभा, क्रांतिकारी सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लाक जैसे कुछ दल भी अपना अस्तित्व गँवा रहे थे। राजस्थान व मध्य भारत में रामराज्य परिषद, उड़ीसा में गणतंत्र परिषद तथा बीहार में जनता पार्टी व झारखण्ड पार्टी अपनी महत्ता धार्मिक एवं जातीय सदस्यों में बनाई हुई थीं। दक्षिण भारत में मद्रास व मलबार में मुस्लिम लीग मुसलमानों में लोकप्रिय थी। वहाँ द्रविड मुन्नेट्ट

---

1. डब्ल्यू.एच. मोरिस जोन्सः पार्लियामेण्ड इन इण्डिया. पृ. 97-98
2. बलराज मधोक पोलिटिकल ट्रेण्डज़ इन इण्डिया. पृ. 42

कज़गम नामक ब्राह्मणेतरों का जुनूनी दल था। जो उत्तर भारत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी का घोरतम विरोधी था और स्वतंत्र तमिलनाडु की उग्र माँग पेश कर रहा था। 1959 में श्री. चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के नेतृत्व में स्वतंत्र दल की स्थापना हुई जो कांग्रेस की अनेक नीतियों के विरोध में खडा हुआ। इस प्रकार स्वतंत्रता के उपरांत देश में विभिन्न राजनीतिक दलों का उदय हुआ। पर सत्ता धारण के बाद राजनीतिक नेताओं के चेहरे एकदम बदल गये। वे देशी विदेशी बनकर जन साधारण को देखने लगे। यह भी नहीं सत्तासीन दल एवं नेता जनता के कल्याण कार्यों से हटकर अपनेलिए और अपनों केलिए सत्ता का उपयोग करने लगे। ब्रटीश शासन से मुक्त जनता स्वदेशी शासन में अपने सुवर्ण युग की कल्पना करती रही। पर जल्दी ही उन्हें महसूस हुआ कि अपनी कल्पनाएँ बेकार हैं। उनका वर्तमान या भविष्य सुधरनेवाला नहीं। उन्हें अभाव उत्पीडन, शोषण, और दरिद्रता से मुक्ति नामुमकिन है। जनता के मन में निराशा छा गई। वे संत्रास, कुंठा, निराशा एवं अनिश्चितता के शिकार बन गईं। स्वाधीनता परवर्ती साहित्यकारों ने जनमानस के इस बदली हुई मानसिकता का चित्रण किया। वर्तमान राजनीति और नेताओं की कटु आलोचना की। दोनों भ्रष्टाचारिता में डूब चुके थे। इसलिए स्वाधीनता परवर्ती हिन्दी साहित्य असन्तोष का, निराशा का, आस्था हीनता का साहित्य बन गया। लेकिन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के ज़रिए इस आस्थाहीनता के खिलाफ सख्त संघर्ष किया और वे अच्छे भविष्य को गढने के प्रयत्न में जनता को दिशा निर्देश देते रहे। अतः सन् साठ के बाद के साहित्य में निराशा नहीं आशा है, अनास्था नहीं आस्था है, निष्क्रियता नहीं सक्रियता है। साठोत्तर परिस्थिति में इस सक्रियता को प्रश्रय देनेवाली शक्ति वामपंथी विचारधारा ही रही है।

स्वाधीनोत्तर राजनीतिक परस्थितियाँ और हिन्दी उपन्यास

स्वाधीनता परवर्ती उपन्यासों में राजनीति का दूसरा रूप द्रष्टव्य है, जिससे आम आदमी बिलकुल असन्तुष्ट है। क्यों कि स्वस्वतंत्रता आम आदमी को

नहीं मिली बल्कि कुछ ऐसे लोगों को मिली जो समाज के उच्च वर्ग के थे। इसलिए स्वतंत्रता का जैसा प्रभाव लोगों पर पडना था वैसा नहीं पडा। स्वतंत्र भारत में भी जनता अपने को कई दृष्टियों से अस्वतंत्र एवं आश्रयहीन महसूस करने लगी। इसका प्रमुख कारण राजनीति का नैतिक पतन था। राजनीति भ्रष्ट हो गई। प्रशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण राजनीतिक नेता एवं उसके अनुयाई लोग सत्ता का सुख भोगने लगे। आम आदमी के साथ अपने दायित्वों को सुविधापूर्वक भूलने लगे। जन सेवा का अर्थ ही बदल गया, वे अपने जनों की सेवा करने लगे। इस प्रकार जनता के मन में राजनीति और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति सन्देह पैदा होने लगे। इस बदली हूई मानसिकता का चित्रण स्वाधीनता परवर्ती उपन्यास का प्रमुख मुद्दा बन गया। राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों एवं संघर्षों को अपनी रचना के विषय बनाने वाले उपन्सकारों में भैरव प्रसाद गुप्त नागार्जुन, यशपाल आदि प्रमुख हैं। भैरव प्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया'(1952) 'जंजीरें' और 'नया आदमी' (1953) 'सत्ती मैया का चौरा' (1959), 'धरती'(1965) आदि वर्ग संघर्ष के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास हैं। इस में सामाजिक विषमता के कारणों का अन्वेषण और उसके समाधान भी प्रस्तुत किए गए है। समाजवादी व्यवस्था के बिना सामाजिक अव्यवस्था को दूर करना असंभव है। मार्क्सवादी विचारधारा का पूर्ण समर्थन इन उपन्यासों में हुआ है।

नागार्जुन के बलचनमा तथा अन्य उपन्यासों में भी देहातों की राजनीति का सीधा चित्रण है। बलचनमा एक खेतिहर मजदूर है। वह क्रमशः जिन्दगी की टोक्करें खाते-खाते सजग राजनीतिक कर्मी बन जाता है। यह एक साधारण इन्सान के धीरे धीरे आत्मसजग होने और अपना भविष्य स्वंयं बनाने में प्रवृत्त होने की कथा भी है। यशपाल का अशोक द्वारा कलिंग विजय के प्रसंग पर आधारित

उपन्यास 'अमिता' (1956) रूस द्वारा प्रवर्तित शान्ति आन्दोलन के समर्थन में लिखा गया है। वह शांति और अहिंसा की श्रेष्ठता और अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध करने के साथ उस युग की खास परिस्थितियों में वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर भी परोक्षतः प्रकाश डाला है। लेकिन 'झूठा सच' में राजनीति का चित्रण सीधा होकर भी अधिक वस्तुनिष्ठ है। उसमें बडे विस्तार से उन राजनीतिक आर्थिक परिस्थितियों का विवरण दिया है जिन्होंने देश विभाजन को सम्भव तथा अनिवार्य बना दिया। इस संदर्भ में विभिन्न राजनीतिक शक्तियों. पार्टियों एवं आन्दोलनों के रूप और परिणाम को दिखाया गया है। रामदरश मिश्र के शब्दों में "लेखक ने तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों के विस्तार तथा मानवीय अन्तर, सत्यों की गहनता, आधुनिक नियति और मूल्य का बहुत सुन्दर सामंजस्य किया है।"[1]

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'परती परिकथा' (1957) में राजनीति अधिक सक्रियता एवं मानवीय संबद्धता के साथ उपन्यास की भाव वस्तु के रूप में आती है। "लेखक पुरानपुर में भूमि के नये बन्दोबस्त को लेकर चलने वाले दाँवपेचों और देहाती राजनीति के बहुत से हथकण्डों का विस्तार से चित्रण किया है।"[2] उनमें देश के दोनों चुनावों के बीच के जीवन को ही लिया गया है। कोसी के अंचल में फैली हुई हज़ारों बीघा परती ज़मीन किस प्रकार युगों बाद नवीन योजनाओं के फलस्वरूप नया जीवन प्राप्त करती है, और इस रूपान्तर की प्रक्रिया में उस धरती के आस पास का जीवन किस प्रकार अचानक विक्षुब्ध और चंचल हो उठता है, इसी का विशद चित्रण किया गया है।

नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' में राजनीति को महत्वपूर्ण पात्रों के परिवेश के, या उससे भी अधिक उनके कार्यक्षेत्र के रूप में चित्रित करने का प्रयास

---

1. रामदरश मिश्र हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा पृ. 142
2. नेमी चन्द्र जैन अधूरे साक्षात्कार पृ. 163

है। श्रीधर इन्दौर और काशी के राजनीतिक तूफान में पड जाता है। वह स्वभाव से महत्वाकांक्षाहीन और निष्क्रिय होने के कारण राजनीति की संकीर्णता और दलबन्दी में अनचाहे ही पिसने लगता है। यहाँ राजनीति आतंकवादी स्तर पर चलती है। श्रीधर स्वयं इतना गतिहीन है कि यह राजनीति भी एक परिस्थिति के रूप में उसकी जिन्दगी की करुणा को तीव्र करके उद्‌घाटित करने का साधन बन जाती है। फिर भी अपने आप में परिस्थिति के रूप में राजनीतिक यथार्थ का यह चित्रण भी बडा सतही और क्षीण है, जीवन की अधिक गतिशील परिस्थिति के रूप में उसे प्रस्तुत नहीं करता। "यह पथ बंधु था स्वतंत्रता के बाद, किंतु स्वतंत्रता के पूर्व की राजनैतिक सामाजिक घटनाओं की पृष्ठबूमि में लिखा गया, सामान्य व्यक्ति की स्वप्निल चेतना के खंडित होने और व्यापक परिप्रेक्ष्य में समष्टि के जीवन के बदलाव की मार्मिक गाथा प्रस्तुत करता है।"[1]

डॉ. देवराज के 'पथ की खोज' (1951) एक कवि के संवेदनशील मन पर पडे 1942 के आन्दोलन के प्रभाव की कथा है। "समस्त राष्ट्रीय जीवन को आन्दोलित करने वाले स्वाधीनता संग्राम के नये मोडों की, तीव्रता से उभरती राजनीतिक सांस्कृतिक विचारधाराओं के संघात की छाप किस प्रकार एक ईमानदार और सजग लेखक के जीवन पर, उसके विश्वासों और मान्यताओं पर, उसके कोमल अपरिपक्व मन और उससे प्रसूत काव्य पर पडती है, इसकी कहानी 'पथ की खोज' में है।"[2] इस दृष्टि से यहाँ राजनीति अधिक जीवन्त परिवेश के रूप में प्रस्तुत है, यद्यपि 1942 के आन्दोलन की व्यापकता, तीव्रता और उसकी परिणति का कोई सुस्पष्ट और तीखा चित्र इसमें भी नही उभर पाता।

---

1. नरेन्द्र मोहन आधुनिक हिन्दी उपन्यास; पृ. 213
2. नेमी चन्द्र जैन अधूरे साक्षात्कार. पृ. 164

जैनेन्द्रकुमार वैयक्तिक सत्य के कथाकार होकर भी राजनीति को पृष्ठभूमि के रूप में प्रायःउपयोग करते आए हैं। उनकी कई रचनाओं में यह राजनीति रोमैंटिक आतंकवादी कार्यकलाप मात्र है। 'सुखदा' (1952) में उन्होंने इसका एक सक्रिय परिस्थिति के रूप में प्रयोग किया है। सुखदा का राजनीति में भाग लेना ही उसके अपने आप से निर्वासित (एलियनेट) होने का कारण बनता है। यों यह घर की चारदीवारी से बाहर कोई भी कार्य हो सकता था। पर यह हमारे देश के जीवन में राजनीति के विशिष्ट स्थान का ही सूचक है कि स्त्री केलिए सबसे सहज बाह्य गतिविधि जो सामने आती है, वह राजनीतिक कार्य ही है। यहाँ भी व्यक्ति के जीवन में राजनीति के परोक्ष स्थान का आभास तो मिलता है, पर उस राजनीतिक गतिविधि का कोई विशेष स्वरूप सामने नहीं आता। इस राजनीति में कोई निजी गति या तीव्रता भी नहीं है जो व्यक्ति के जीवन को स्वतंत्र रूप में प्रभावित कर सकती हो।

राजनीतिक परिस्थितियों को उपन्यास की प्रधान वस्तु बनाने का प्रयास जैनेन्द्र के 'जयवर्धन' में है। "जयवर्धन उपन्यास मूलतः राजनीतिक सन्दर्भ में व्यक्ति को मानवीय निजता और शासक की सामाजिकता के द्वन्द्व की कहानी कहता है।"[1] उसका प्रमुख पात्र जयवर्धन शीर्षस्थ राजनेता है, राज्याधिप है। उसकी स्थिति में उसका हर कार्य, उसकी हर उलझन राजनीतिक समस्या बन सकती है। फिर उसका तो अन्तसंघर्ष ही व्यक्ति और राजसत्ता के सम्बन्ध को लेकर है। यह संघर्ष उसके वैयक्तिक आन्तरिक जीवन की पेचीदगी के कारण और भी तीव्र होता है। यहाँ राजनीति और व्यक्ति समानान्तर स्थिति में हैं और जयवर्धन में राजनीति का दोहरे

---

1. रामदरश मिश्र हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा पृ. 99

आयाम में अन्वेषण है अपने आप में और वैयक्तिक जीवन के साथ के सम्बन्ध में। इस प्रकार जयवर्धन में राजनीति जीवन की एक महत्वपूर्ण स्थिति के रूप में प्रस्तुत है, जिसकी मानवीय संभावनाएँ अनन्त है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास में राजनीति का तीव्रतम और सबसे महत्वपूर्ण उपयोग हुआ है।

वास्तव में समग्र मानवीय स्थिति के एक अनिवार्य अंग के रूप में राजनीति का प्रक्षेपण फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' में दर्शनीय है। यहाँ राजनीतिक परिस्थितियाँ, परिवर्तन, आन्दोलन, पार्टियाँ, सिद्धांत सब किसी कीमियायी प्रक्रिया से जीवन से एकाकार हो गये हैं। राजनीतिक विचार और कार्य व्यक्ति एवं समुदाय को प्रभावित करते हैं, उन्हें बदलते हैं, और इस प्रक्रिया में वे स्वयं भी जैसे बदलते जाते हैं। साथ ही अपने तीखे नुकीले सैद्धांतिक रूप से, अपनी सुपरिचित दो टूक किताबी या दलगत परिभाषाओं से, भिन्न होते जाते हैं। मैला आँचल का लेखक राजनीति को वह केन्द्रीय स्थान देकर भी, उसे पूरे जीवन पर हावी या उससे एकाकार नहीं हो जाने देता। राजनीति समग्र मानवीय स्थिति के एक अविभाज्य अंग के रूप में प्रस्तुत होती है। मैला आँचल में राजनीतिक परिस्थितियों का यह उपयोग हिन्दी उपन्यास में एकदम बेजोड है। दिलचस्पी की बात यह है कि इस उपन्यास में पूरे जीवन को कुछ इस प्रकार रेणु ने प्रस्तुत किया है कि विभिन्न राजनीतिक मतवाद, सिद्धांत, आन्दोलन, क्रियाकलाप आदि अपने नितांत मानवीय रूप में प्रकट हो जाते हो। "रेणु ने एक गांव की मर्यादा के भीतर समेट कर तत्कालीन राजनीतिक दलों के आपसी टकराव और अतिवादिताओं को बडी मार्मिकता से चित्रित किया है। व्यंग्य की शक्ति ने एक ओर लेखक को किसी दल का पक्षधर और कटु होने से बचा लिया है।"[1] इस प्रकार पूरी राजनीति की एक बडी तीक्ष्ण परोक्ष समीक्षा जैसे

---

1. नरेन्द्र मोहन आधुनिक हिन्दी उपन्यास; डॉ. रामदरश मिश्र का लेख पृ. 135

पूरा उपन्यास प्रस्तुत होता है। इस में मताग्रहों से अधिक मानवीय सार्थकता पर ही बल दिया गया है। भावधारा के रूप में राजनीति के चित्रण में मैला आँचल एक विशिष्ट सार्थकता का सूचक है।

अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में तो राजनीति के माध्यम से रोचकता की तलाश और भी तीव्र है। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत के व्यक्ति और समाज के टूटते संबंधों का उपन्यास है। स्वाधीन भारत बहुत तेजी से विघटित हुआ है। इस विघटन में व्यक्ति इकाईयों और छोटे छोटे दलों के सामने देश और समाज नगण्य हो गए हैं। याने व्यक्ति और समाज आपस में कट गए हैं। इस कटाव के कई पहलू है। प्रचीनता और नवीनता का आपस में कटाव, दोनों का समाज से कटाव। इस प्रकार यह उपन्यास सामाजिक जीवन की यात्रा करते हुए प्राचीन-नवीन, नारी-पुरुष, राजनीतिक दल, कुंठा, विश्वास के अनेक रूपों की पहचान उभरता चलता है। और फिर इनके बीच वह संबंध सूत्र खोजता है जो इन्हें एक मूल्यवान समाज के रूप में परिणत कर सके। "स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रथम चुनाव में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अपनाये गए हथकंडों, सत्ता और कुर्सी केलिए जनता के हित की रामनामी चादर ओढ़कर ताल ठोंककर चुनाव के अखाड़े में उतरने वाले नेताओं के मल्लयुद्ध का जैसा प्रामाणिक चित्र 'बूंद और समुद्र' में मिलता है वैसा कम ही देखने को मिलेगा।"[1]

राजनीतिक परिवेश तथा कांग्रेसी नेताओं का पोल खोलने वाला एक उपन्यास है रांगेय राघव रचित 'आखिरी आवाज़'। "राजस्थान के एक ग्रामीण अंचल में व्यभिचार और हत्या की पृष्ठभूमि पर कांग्रेसी नेताओं को गुटबन्दी, अनाचार और स्वार्थ, पुलिस के जुल्म और रिश्वतखोरी आदि का बडा ही सरलीकृत यान्त्रिक और

---

1. निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद पृ. 27

सतही चित्रण है।"[1] राजेन्द्र यादव उखडे हुए लोग में कांग्रेसी पूँजीपति देशबन्धु उर्फ नेता भैया के जीवन की गन्दगी का उद्‌घाटन करते है। नेता भैया गांधिजी के साथ रह चुके हैं, आजकल प्रादेशिक कांग्रेस के प्रधान है, पर वास्तव में घोर दुश्चरित्र, पाखण्डी और घृणित व्यक्ति है। कांग्रेसी राजनीति की आलोचना या भंडाफोड करना ही इसका उद्देश्य है न कि राजनीतिक संबंन्धों या शक्तियों के किसी संघात का उद्‌घाटन करना। मनहर चौहान के 'हिरना सांवरी' (1962) में छत्तीसगढ क्षेत्र के दो ठाकुरों में चुनाव को लेकर आपसी झगडे होते दिखाये गये हैं, जिसका मूल कथा से बडा शिथिल सा ही संबंध है। राजनीतिक भावसूत्र के हमारी चेतना पर प्रभाव की एक परिणति यह भी है कि हमारे उपन्यासकार राजनीति का भण्डाफोड़क रूप में उपयोग करने के प्रलोभन से बहुत कम ही बच पाते हैं।

'भूले बिसरे चित्र' में कथा पूरे राष्ट्रीय धरातल पर पीढियों और वर्गों के संघर्षों के माध्यम से उभरती है। परिवार, वर्ग और राष्ट्र की गतिशील चेतना पचास वर्षों के समय की यात्रा करती हूई कथा, चुकते और उभरते मूल्यों, संबंधों और उनके संघर्षों को बहुत सच्चाई से रूपायित करती है। इस उपन्यास में 1850 और 1930 के बीच के भारत की चार पीढियों की कथा है। इन पारिवारिक पीढियों को राष्ट्रीय पीढियों के रूप में देखा गया है। "अधिकांश हिन्दी उपन्यासों में राजनीति का उपयोग रोचक वर्णनों तथा तथ्यात्मक जानकारी के स्तर पर ही रह जाता है। इसका बड़ा ज्वलंत उदाहरण है भगवतिचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र'।"[2] इस प्रकार लेखक ने सामंतवाद, नौकरशाही, पूंजीवाद आदि के पारस्परिक संघर्ष के जरिए देश का जीवंत चित्र अंकित किया है।

---

1. नेमिचन्द्र जैन अधूरे साक्षात्कार पृ. 167
2. वही पृ. 166.

'रानी नागफनी की कहानी' (1960) हरिशंकर परसाई का एकमात्र उपन्यास है। देश की स्वाधीनता के बाद भारत में जनता के सपनों के बदले नागफनी के जंगल बढ आए हैं। और एक ऐसे स़माज का विकास हो चुका है उसमें करुणा और संवेदनशीलता छीजती गई। सत्ताकामी नेताओं की भ्रष्ट राजनीति, भाई-भतीजावाद, चोर बाज़ारी और भ्रष्टाचार, शिक्षित बेरोज़गारी और जातिवाद, इन सारे कूडे -कचरे को साफ करने केलिए वे एक लंबी झाडु हाथ में लेकर निकल पडते हैं। वे जानते हैं कि ये सब सड़कर जनता की सेहत पर बुरा असर डालेंगे। स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीतिक स्थितियों को व्यंग्यात्मक ढंग से इस उपन्यास में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

लेकिन सन् साठ याने समकालीन उपन्यासों के संदर्भ में इस मानसिकता का कुछ विकसित रूप हम देख सकते हैं जो व्यावहारिक राजनीति के पतन के खिलाफ का प्रतिरोध मात्र नहीं बल्कि देश की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समझ के परिणाम स्वरूप उत्पन्न राजनैतिक चेतना का ही परिणाम है। यहाँ उपन्यासकार देखते हैं कि कैसे राजनीति और धर्म का अनैतिक गठबंधन देश विभाजन के संदर्भ में हुआ है। कैसे उसने जन जीवन को दु:खद बना दिया है। उसी प्रकार देश के इतिहास का काला अध्याय है आपात्काल। आपात्काल में स्वार्थ अधिकार की रक्षा केलिए राजनीति का गलत उपयोग करके जनता को धोखा दिया गया है। उसी प्रकार समकालीन संन्दर्भ में दो प्रमुख आन्दोलन हुए हैं। नारी मुक्ति आन्दोलन और दलित आन्दोलन। इन दोनों के पीछे अपनी अस्मिता की पहचान है। स्त्रियों ने यह पहचान लिया कि पुरुष वर्चस्व समाज में सारा नियम उसके खिलाफ है। वे कई प्रकार के बन्धनों में ज़कडी हई हैं। वह अस्वतंत्र है, असुरक्षित है, शोषित है, पीडित है, उपेक्षित है। उसने महसूस किया कि उसे इन स्थितियों से उबरना चाहिए। वह भी

पुरुष के समान समाज की एक अनिवार्य इकाई है। उसको उसी प्रकार स्वीकृति मिलनी चाहिए। नारी की स्वतंत्रता को प्रमुख विषय बनाकर अनेक उपन्यास खुद स्त्रियों ने लिखे। इसके पीछे कोई खास राजनैतिक दर्शन नहीं। लेकिन अब तक की राजनैतिक परिस्थितियों को ऐतिहासिक सन्दर्भ में परखते हुए उन्होंने यह भी घोषित किया कि सभी राजनीतिक दल स्त्री के शोषण में समान रूप से जिम्मेदार है। उसी प्रकार दलित आन्दोलन भी अपनी सांस्कृतिक पहचान का परिणाम है। उन्होंने भी अनुभव किया कि कोई भी राजनीतिक दल ईमानदारी से दलितों के उद्धार को अजंडा नहीं बनाया है। गांधीजी के बाद सभी राजनीतिक दलों ने दलितों को आरक्षण के अंतर्गत सीमित रखते हुए उन्हें अपना वोट बैंक बना रखे थे। समकालीन संदर्भ में उन्होंने इस मुखौटे को तहस नहस करते हुए अपनी अलग राजनीतिक चेतना का परिचय दिया है।

इस प्रकार समकालीन संदर्भ में राजनीतिक चेतना का बदला हुआ रूप हम देख सकते हैं। इस बदली हूई चेतना के अध्ययन की अपनी प्रासंगिकता है क्यों कि प्रत्येक परिस्थिति में राजनीति का किस प्रकार उपयोग किया गया है और उसका क्या असर जनता पर पडा है, यह जानना जरूरी है। सचमुच यह गंभीर चिंतन का विषय है। इसलिए इस विषय के साथ न्याय करने केलिए देश विभाजन और राजनीतिक चेतना, आपातकाल और राजनीतिक चेतना, नारीमुक्ति आन्दोनल और राजनीतिक चेतना तथा दलित आन्दोलन और राजनीतिक चेतना जैसे अध्यायों में इसका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

.....

दुसरा अध्याय

देश विभाजन और राजनीतिक चेतना

दुसरा अध्याय

देश विभाजन और राजनीतिक चेतना

हिन्दु- मुसलमानों के बीच की दरार बहुत पुरानी है। यह सच है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हुए सभी आँदोलनों में इन दोनों ने कंधे से कंधा भिड़ाकर भाग लिया था पर उनके बीच की दरार बनी रही। अलगाव का विष फैलता रहा। बैरिस्टर जिन्नासाहब इस अलगाव को एक तत्वज्ञान का जामा पहनाकर बडी सावधानी से पाल रहे थे। उनके सामने पाकिस्तान की कल्पना थी। 1942 के आंदोलन में लगभग सभी कांग्रेसी नेताओं को जेल में ठूस दिये गये थे। मुस्लिम लीग को चार साल तक मैदान खुला मिला था। पाकिस्तान की निर्मिति केलिए जमीन इसी काल में तैयार की गई। 1942 के बाद अंग्रेज़ों ने हिन्दु मुसलमानों में समझौता लाने का प्रयत्न भी किया। परन्तु जिन्ना साहब अपनी ज़िद्द पर अडे रहे। इस प्रकार भारत विभाजन के पीछे यद्यपि जिन्ना साहब के हाथ प्रमुख एवं प्रत्यक्ष रहे तथापि अंग्रेज़ों की भूमिका प्रबल थी पर परोक्ष रही।

देश विभाजन की नींव

डॉ. इक्बाल ने 1930 में पाकिस्तान शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया। इसके पूर्व पाकिस्तान का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं है। मुस्लिम लीग की ज़िद्द थी कि मुस्लिम बहुमत वाला भू-भाग पाकिस्तान समझ लिया जाए। पंजाब, बंगाल

और असम प्रांत की पूर्ण माँग जिन्नासाहब ने की थी। देश का विभाजन हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में होने पर भी दोनों में अल्पसंख्यक जातियों की समस्या बनी ही रहेंगी। जाति या धर्म के आधार पर राष्ट्र का निर्माण करना ही बहुत बडी गलती थी। देश के सभी भागों में मुसलमान और हिन्दु निवास करते हैं। बहुमत वाले प्रदेश को अलग-अलग राष्ट्र मानना भ्रांति ही होगी। सैद्धान्तिक आधार के न होते हुए भी मुस्लिम लीग और कोंग्रेस में समझौता कराने के प्रयत्न होते रहे पर वे सारे प्रयत्न असफल सिद्ध हुए। मुस्लिम लीग का कहना था कि कांग्रेस को हिन्दुओं का संघ मान लिया जाए और मुस्लिम लीग को मुसलमानों का। भारत में बनी अस्थाई सरकार का नेतृत्व पंडित जवहरलाल नेहरुजी ने किया। मुस्लीम लीग ने साम्प्रदायिक दंगों के माध्यम से अस्थाई सरकार को असफल बनाने की कोशिश की। फलतः पंजाब तथा बंगाल में सांप्रदायिक हत्यकांड शुरु हुआ। आखिर कांग्रेस को पाकिस्तान की माँग स्वीकार करनी पडी। वास्तव में अंग्रेज़ों की कूटनीति भी इसके पीछे सक्रिय रही। अंत में 15 आगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। उसी दिन देश दो राष्ट्रों में विभाजित भी हुआ।

साम्प्रदायिकता का जन्म

देश में साम्प्रदायिकता के जन्म के पीछे अंग्रेजों की कूटनीति ने ही कार्य किया था। भारत में ब्रिटीश राज्य की स्थापना के पहले हिन्दी को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ब्रिटीश शासन की स्थापना के बाद मुसलमानों की सामान्य दशा बिगडने लगी थी। राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से वे पिछड गये।

ब्रिटीश शासक मुसलमानों को विजित शत्रु के रूप में समझते थे। शिक्षा आदि में पिछडे होने के कारण उन्हें सरकारी नौकरियाँ प्राप्त होने में कठिनाइयाँ थीं। सन् 1857 की क्रांति के बाद सामान्यतया मुसलमानों के प्रति अंग्रेजों का रूख कडा हो गया। क्यों कि उनका मानना था कि इस विद्रोह का मुख्य कारण मुसलमान थे। पर वास्तविकता उससे भिन्न थी। उस क्रांति में हिन्दुओं ने भी समान रूप से भाग लिया था।

धीरे धीरे अंग्रेज़ों की इस नीति में कुछ परिवर्तन आया। वे सोचने लगे कि हिन्दू और मुसलमानों को कैसे शत्रु बनाए रखें ताकि शासन की जडें मज़बूत हो सकती थी। अतः वे "फूट डालो और राज करो" वाली नीति को अपनाने लगे। मुसलमानों के प्रति उनके दृष्टि कोण उदार हो गए। अंग्रेज़ों की शासन नीति का समर्थन करनेवाले कुछ मुसलमान नेता भी इन्हें मिल गए। अंग्रेज उन मुसलमानों को प्रसन्न रखना चाहते थे। इसके परिणामस्वरूप उनकी भाषा-नीति ने भी भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के बीज बो डाले। पहले ही "ईस्ट इंडिया कंपनी" और "फोर्ट विलियम कालेज" द्वारा हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दु को जो श्रेय और प्रोत्साहन देता रहा उसने भाषा समस्या को और बिगाड दिया। अंग्रेजों ने उर्दु को लेकर साम्प्रदायिकता को भटकाने का प्रयत्न किया। मुसलमानों को इसकेलिए उन्होंने उकसाया और हिन्दी को हिन्दी भाषी प्रदेशों से निकालकर भाषाई उलझन पर पूर्ण रूप से सांप्रदायिक एवं राजनीतिक रंग चढ़ा दिया।

वास्तव में यह अंग्रेजों की एक चाल थी। स्वयं अंग्रेज ही इसकेलिए उत्तरदायी थे। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू को अलग भाषा के रुप में विकसित कराने का श्रेय जॉन गिलक्राइस्ट आदि

को ही है। उन्होंने ही हिन्दुस्तानी विभाग में हिन्दी और उर्दु को अलग-अलग भाषा मानकर उनकेलिए अलग-अलग पण्डितों और मुंशियों की नियुक्ती की थी। कंपनी सरकार की भाषा-नीति ने धीरे-धीरे देश में साम्प्रदायिकता को पनपने का अवसर दिया। भाषा का संप्रदायों से सम्बन्ध जोड़ दिया गया। हिन्दू और मुसलमानों के बीच आपसी विरोध बढाने में अंग्रेज़ों की कूटनीति खूब काम आयी।

विभाजन की त्रासदी

विभाजन भारत के इतिहास की सबसे बडी त्रासद और शर्मनाक घटना है। अपने अधिकारों एवं शोषण तंत्रों को जारी रखने केलिए उपनिवेशवादी ताकतों ने भारत में सांप्रदायिकता का जो ज़हर फैला दिया था उसका दुष्परिणाम था भारत विभाजन। भारतीय जनता मुक्ति की साँस लेते ही अखण्ड भारत का सपना हमेश हमेशा केलिए बिखर गया। भारत विखण्डित हो गया-भारत और पाकिस्तान में। भारत को हिन्दू राष्ट्र और पाकिस्तान को मुसलमान राष्ट्र घोषित करके जनता के बीच फूट डालने का प्रयत्न जारी रहा। इससे अल्पसंख्यक मुसलमानों में बहुमत के प्रति सन्देह उत्पन्न करते हुए भारत की एकता में, भारतीय जन मानस में एक स्थायी दरार पैदा करने में अंग्रेज़ सफल निकले। अपनी स्वार्थ-पूर्ति केलिए दोनों तरफ के लीग और कांग्रेस-नेताओं ने उसको सहमती भी दी है।

स्वतंत्र भारत के सपने संजोये जनता को विभाजन की अत्यंत भीषण स्थिति का सामना करना पडा। हिन्दू मुसलमान दोनों एक दूसरे के रक्त के प्यासे बनकर लाखों लोगों की हत्या की। स्त्रियों का बलात्कार किया गया। बच्चों की

निर्मम हत्या की गयी। जबरदस्त धर्म परिवर्तन किया गया। देवस्थानों का ध्वंस किया गया, हर कहीं निशृंसता का तांडव होने लगा। एक विदेशी लेखक ने भारत की उस भीषण नर हत्या का विवरण यों दिया है, "छः लाख मारे गये, करोडों को भगा दिया गया, लाखों युवतियों को चूराकर ले गये। हिन्दु मुसलमान दोनों आपस में इस प्रकार की करतूतें करते रहे।"[1]

भाईचारा का अंत

स्वतंत्र भारत का सारा वातावरण निराशा, भय, कुंठा और संत्रास से भर गया। आदमी का आदमी पर विश्वास नष्ट हो गया। भारत से पाकिस्तान की ओर तथा पाकिस्तान से भारत की ओर शरणार्थियों का प्रवाह होता रहा। जनता को अपने घर-बार, धन-दौलत, उद्योग धन्धे सब कुछ छोडकर भागना पडा। इसी बीच अत्याचारियों का लूट-पाट, हत्याकाण्ड, सब कुछ होते रहे, "विभाजन में कत्ल, बलात्कार और अत्याचार ही नहीं हुए थे, बल्कि ऊपर से साबूत दिखाई पडनेवाला आदमी से भी भीतर से पूरी तरह चटख गया था और उसके सारे विश्वास और मूल्य बर्बरता की आँधी में उड गये थे। अपंग, कटे-फटे और रक्तस्नात आद्मियों के काफिले तो दोनों ओर से आए और गये ही थे। पर एक भीषण और उससे ज्यादा भयानक रक्तपात आदमी के भीतर ही हुआ था। दोनों देशों में तो कई लाख आदमी ही मारे गए थे, पर जिस ने इस रक्तपात को झेला, और भोगा था, उसके भीतर सदियों से बने और करोडों जिन्दगियों से बनाए गए विश्वासों का ध्वंस हो चुका था। इसीलिए देशों की सीमाएँ पार करनेवाले

---

1. लियोनार्ड़, लास्ट डेय्स आफ ब्रिटीश राज पृ. 88

शरणार्थियों से ज्यादा शरणार्थी वे थे जिनमें मानवीय मूल्यों की हत्या हो गई थी।"[1] धर्मान्धता की राजनीति ने भारतीय जनता के मन में कभी न मिटनेवाली घाव पैदा की। नरेन्द्रमोहन का कथन है, "विभाजन स्थूल और शारीरिक रूप में एक दुर्घटना नहीं थी, यह एक मानवीय ट्रेजडी थी जिसने लाखों लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर प्रभावित किया था। यह दुर्घटना केवल राजनीति या किसी एक वर्ग-विशेष से जुडी हुई नहीं थी, बल्कि वह लाखों करोडों लोगों की जिन्दगी, उनका वर्तमान और भविष्य उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आचरण और व्यवहार से जुडी हुई थी।"[2] इस प्रकार स्वाधीनता परवर्ती परिस्थिति आम आदमी केलिए प्रतिकूल बन गई। उनकी आशा निराशा में परिणत हो गई। सारे सम्बन्ध टूट गए। इस अनिश्चितता के माहौल का साहित्य है स्वाधीनता परवर्ती साहित्य। उसमें इस त्रासदी का चित्रण कई ढंग से हुआ है। हिन्दी उपन्यास ने इस यथार्थ को अपने विस्तृत कलेवर में समेटने का कार्य किया है।

विभाजन और हिन्दी उपन्यास

विभाजन की त्रासदी ने अपने परिवेश के प्रति सचेत रचनाकारों की संवेदनाओं को आंदोलित किया। लगभग सभी भारतीय भाषाओं के रचनाकारों को इसने संवेदना के स्तर पर गहरा आघात पहुँचाया था। यशपाल द्वारा लिखित 'झूठा सच' भीष्म साहनी का 'तमस' राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' 'टोपी शुक्ला' कमलेश्वर के 'लौटे हुए मुसाफिर' एवं 'कितने पाकिस्तान' गोविन्द मिश्र

---

1. कमलेश्वर,. नई कहानी की भूमिका - पृ. 59
2. नरेन्द्रमोहन,. सिक्का बदल गया पृ. 11

का 'पांच आंगनों वाला घर' ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें रचनाकारों ने इस सांप्रदायिकता और उसकी उपज विभाजन के क्रूर चेहरे को हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

झूठा सच

विभाजन से संबधित रचनाओं का अध्ययन करते समय 'झूठा सच' को छूए बिना आगे जाना समिचीन नहीं होगा। क्योंकि यह विभाजन पर आधारित रचनाओं में सबसे पहला, विस्तृत तथा प्रामाणिक है। इस में लेखक ने हमारे देश के कटु यथार्थ-विभाजन-पर प्रकाश डाला है। इस में स्वाधीनता प्राप्ति के पहले के पाँच साल से लेकर उस के उपरांत के एक दशक तक का पूरा यथार्थ (1943-1958) साकार हुआ है। सांप्रदायिकता की भडकती आग में जलकर राख हुए करोडों की यातना का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार ने मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा का सफल प्रयास भी किया है। इसका पहला भाग 'वतन और देश' में विभाजन पूर्व भारतीय राजनैतिक परिदृश्य को सामने लाता है, "जून 1947 के प्रथम सप्ताह में निर्णय हो गया कि पंजाब को बाँट कर पश्चिम का आधा पंजाब पाकिस्तान को दिया जाएगा। लाहोर पाकिस्तान में जाएगा या हिन्दुस्तान में यह विवाद का विषय बना था। इस घोषणा ने दंगों की धीमी सुलगती चली आती आग को एक बार फिर भडका दिया। बडी संख्या में मुसलमानों के घर जलकर राख हो गये। मुसलमानों में आतंक बढ़ता गया। मुसलमान बडी संख्या में लाहौर छोडकर भागने लगे।"[1]

---

1. यशपाल,. झूठा सच पृ. 291

मानव का दानव रूप

स्वतंत्रता के साथ-साथ देश का विभाजन हुआ। तब हिन्दु और मुसलमान के द्वारा जो पैशाचिक कार्य किए गए वे तो हदय को विदीर्ण कर देनेवाली घटनाएँ थीं। विभाजन के पूर्व इस देश में हिंन्दू-मुसलमान भाईचारे के साथ रहते थे। दोनों मिल जुलकर रहते थे। लेकिन विभाजन की घोषणा ने इन दोनों को राक्षस बना दिया। सांप्रदायिकता के नाम पर दोनों ने एक दूसरे को काट कर मार डालने लगे। देश में दंगे फसाद हुए। जातियों में विद्वेष का विष फैल गया। ये सब देश को टुकडे कर देने के फैसले का परिणाम है। सांप्रदायिकता के कारण मनुष्य-मनुष्य न रहकर पशु बन गया है, "एक आदमी खेल करनेवाले नट की तरह बाँस को ऊँचा उठाया था। उसके साथ के लोग नगाड़ों की तरह कनस्तरों को बजा रहे थे। कुछ लोग होठों पर उलटी हथेली रखे, कृतुमती बकरी को देखकर उन्मादित बकरे की तरह ल्व, ल्व, ल्व... शब्द से हुँकार कर रहे थे। बाँस के सिरे पर एक स्त्री का नंगा शरीर था। स्त्री बांस के सिरे पर टाँगें फलाये, लटकी हुई थी, दोनों टाँगों पर ताज़ा खून क्षितिज से झांकते सूर्य के किरणों में चमक रहा था। स्त्री की गर्दन और बांह निर्जीव, शिथिल लटकी हुई थी।"[1]

सच्चाई की खोज

ऐतिहासिक सत्य के आधार पर उपन्यास की सच और झूठ का विश्लेषण किया जा सकता है। वास्तव में देश विभाजन के पीछे के राजनीतिक नेताओं का मक्सद कुछ और ही था। उपन्यासकार ने अपने वक्तव्य में इसको यों

---

1. यशपाल,. झूठा सच पृ. 514

दर्शाया भी है, "लीग के लीडर और जिन्ना मज़हबी मुसलमान नहीं, पोलिटिकल मुसलमान है उन्हें हुकुमत करने का मौका चाहिए।"[1] यशपाल ने देश विभाजन के पीछे सक्रिय मानसिकता को नंगा कर दिया है। विभाजन जन हितार्थ नहीं था। विभाजन की सारी विभीषिकाओं को झेलनेवाला सचमुच आम आदमी था। डॉ रामदरश मिश्र ने इस ओर संकेत किया है, "लेखक् ने देश के बँटवारे के समय और पश्चात् की सांप्रदायिक विभीषिका में जलते हुए भारत और पाकिस्तान की जन-यातना का बडा मार्मिक चित्रण किया है। विभाजन के समय की घटनाएँ अपने आप में सीमित यानी इतिहास की एक बिन्दु पर समाप्त हो जानेवाली घटनाएँ नहीं हैं। वरन्, इन्होंने दोनों देशों की जीवन-व्यवस्था और जीवन मूल्यों को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। यह उपन्यास एक प्रकार से स्वातंत्र्योत्तर भारत की यात्रा बन गया है।"[2] विभाजन की संपूर्ण त्रासदी को इसमें वाणी दी गई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत सालों से चलती आ रही स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था पल भर में चरमराकर टूट गयी है। स्वतंत्र भारत के राजनैतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचारिता और मूल्य हीनता का नया दौर शुरु हुआ। नौकरशाही भ्रष्ट हो गयी। हर क्षेत्र में मूल्यों का विघटन हुआ। स्वतंत्र भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक राजनैतिक एवं आर्थिक उथल पुथल को समग्रता के साथ 'झूठा सच' के विस्तृत फलक में समेटने का महत्वपूर्ण कार्य यशपाल जी ने किया है। इस प्रकार देश विभाजन की त्रासदी के सच का दस्तावेज़ बन गया है 'झूठा सच'।

---

1. यशपाल, झूठा सच पृ. 121
2. डॉ. रामदरश मिश्र,. स्वतंत्रता परवर्ती उपन्यास - पृ. 11

आधा गाँव

भारत विभाजन बीसवीं शताब्दी की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने लगभग सभी लेखकों को अपने अपने ढंग से कुछ न कुछ लिखने केलिए विवश कर दिया था। राही मासूम रज़ा ने इस उपन्यास में गाज़ीपुर के गंगोली गाँव के दो परिवारों की पारस्परिक वैचारिक कशमकश के द्वारा विभाजन का आतंक और उससे उत्पन्न दहशत को प्रस्तुत करने का कार्य किया है। ये परिवार अपने आप से प्रश्न करते हैं, "हिन्दुस्तान में क्यों रहें, या पाकिस्तान क्यों जाए? " यह उनके मानसिक तनाव की गहराई की ओर हमें ले जाता है। यह कहानी सचमुच अपने समय की कहानी है। याने 1937 से 1952 ई, तक के समय की कहानी। इस समय की मानवीय त्रासदी इन शब्दों में स्पष्ट है, "कई बूढ़े मर गये, कई जवान बूढे हो गये, कई बच्चे जवान हो गये और कई बच्चे पैदा हो गये। यह उम्रों के इस हेर-फेर में फँसे हुए सपनों और हौसलों की कहानी है, उन मकानों की जो खंडहरों पर बनाये गये है।"[1]

देशविभाजन का मुसलमानों पर क्या परिणाम हुआ? भारत और पाकिस्तान को लेकर उनकी क्या धारणा थी? इत्यादि प्रश्नों को राही जी ने सहज ढंग से "आधा गाँव" में उठाया है, और अपनी तरफ से इनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर पन्द्रह वर्षों की भारत से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाओं को इस में दर्शाया गया है।

---

1. राही मासूम रज़ा,. आधा गाँव - पृ. 12

उपन्यास के अनेक पात्र पाकिस्तान का विरोध करते हैं। फुन्नन मियाँ के द्वारा लेखक ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान की मुस्लिम लीगी राजनीति का विरोध व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "कहीं इस्लाम है कि हुकूमत बन जहिए। ये भाई, बाप-दादा की कबर हियाँ है, चौक इमामबाडा हियाँ है, खेत बाडी हियां है, हम कोनो बुरवक है कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जाएँ।"[1] "वज़ीर मिया के अलावा दखिन पट्टी का कोई आदमी पाकिस्तान को अच्छा नहीं कहता था"[2] हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता के साथ ही जिन्ना साहब और मुस्लीम लीग की राजनीति के कारण पाकिस्तान भी बन जाता है। हिन्दू मुसलमानों में दंगे होते हैं, मारकाट होती है। हिन्दुस्तान में रह गये मुसलमानों की स्थिति काफी असुरक्षित हो जाती है। अब्बू मियाँ कहते हैं "इनके जिन्ना साहब तो हाथ झाड़ के चले गयें कि हियाँ के मुसलमान जाएँ, खुदा न करें जहन्नुम में, ई अच्छी रही। पाकिस्तान बने के वास्ते वोट दें, हियाँ मुसलमान अडर जब पाकिस्तान बने तो जिनवा कि हियाँ के मुसलमान जाएँ चुल्हे भाड़ में।"[3] इस प्रकार लेखक ने पाकिस्तान की राजनीति के विरुद्ध गंगौली के शिया मुसलमानों के माध्यम से एक मोर्चा तैयार करने का प्रयत्न किया है। पाकिस्तान की निर्मिति के कारण कई मुसलमानों की स्थिति दयनीय बन गई है। इसका कारण यही है कि इस्लाम के प्रति धार्मिकनिष्ठा के बावजूद वे इस देश को, यहाँ के गाँवों को, घरों को अपने ही मानते थे।

'आधागाँव' के साधारण जन कहीं भी सांप्रदायिक दंगों में भाग नहीं लेना चाहते। बलवों का वह तनिक भी समर्थक नहीं। किंतु उनकी सबसे बड़ी

---

1. राही मासूम रज़ा,. आधा गाँव - पृ. 162
2. वही पृ. 61
3. वही पृ. 306

त्रासदी यह है कि उन्हें चिन्तन शक्ति नहीं है। धर्म को लेकरअपना कोई स्वतन्त्र विचार नहीं है। जन सामान्य में मानवता है, भाव-प्रवणता है किंतु वह वैचारिकता से शून्य है। यही कारण है वे 'मुस्लिम लीग' तथा पाकिस्तान के नाम से सहज ही उत्तेजित हो उठते हैं और अनजाने में उसके भीतर हिंसा तथा अलगाव जैसे मनोविकार उपजने लगते हैं। इस तरह हिन्दू-मुस्लिमों के बीच के सदियों के हार्दिक संबंधों पर खरोंचे आने लगती हैं। अलिगढ विश्वविद्यालय के विद्यार्थी लीग तथा पाकिस्तान के समर्थक के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। उपन्यास में अनेक पात्रों ने अनेक सन्दर्भों में पाकिस्तान का समर्थन किया है।

"कांग्रेज हिंदुओं की पार्टी है।"[1]

"मुसलमान का मुल्क बनेगा"[2]

"एक मरतबा पाकिस्तान बन गया तो मुसलमान ऐश करेगें।"[3]

"अंग्रेजों के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा।'[4]

"असल में इन हिन्दुओं की सिंसियरिटी मशकूक है।"[5]

---

1. राही मासूम रज़ा,. आधा गाँव - पृ. 53
2. वही पृ. 62
3. वही पृ. 60
4. वही पृ. 132
5. वही पृ. 166

"पाकिस्तान न बना तो ये आठ करोड मुसलमान यहाँ अछूत बनकर रखे जायेंगे।"[1]

"जब हिन्दू आपकी माँ-बहन को निकाल ले जाए तो फरियाद न कीजिएगा।"[2]

मसजिदों में भी पाकिस्तान का प्रचार किया जाता था, "यह तो आप लोगों को मालूम ही होगा कि आजकल पूरे मुल्क में मुसलमानों की ज़िन्दगी और मौत की लडाई छिडी हुई है। हम ऐसे मुल्क में रहते हैं जिसमें हमारी हैसियत दाल में नमक से ज्यादा नहीं है। एक बार अंग्रेज़ों का साया हटा तो ये हिन्दू हमें खा जायेंगे। इसलिए हिन्दुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी जगह की जरूरत है जहाँ वे इज्जत से जी सके।"[3]

पाकिस्तान बनने की बात को लेकर एक छात्र की टिप्पणी यों है "सबसे बडी बात तो यह है कि दुनिया के नक्शे पर एक और इस्लामी हुकुमत का रंग चढ जाएगा और यह भी नामुमकिन नहीं कि दिल्ली के लाल किले पर एक बार फिर सब्ज इस्लामी परचम लहराता नज़र आए।"[4]

मुस्लिम बुद्धिजीवियों द्वारा इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया जाता रहा, पर श्री रज़ा जी के समझदार शिक्षा पात्र इस प्रचार के विरुद्ध तर्क करते रहे हैं। तन्नु का कहना है "नफरत और खौफ की बुनियाद पर बननेवाली कोई चीज़

---

1. आधा गाँव राही मासूम रज़ा - पृ. 251
2. वही पृ. 251
3. वही पृ. 254
4. वही पृ. 259

मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बनजाने के बाद भी गंगौली यहीं हिन्दुस्तान में रहेगा और गंगोली भी फिर गंगोली है।"[1] परन्तु सईदा को वह दिल की गहराइयों से चाहता था। लेकिन रिश्ते की बहन होने के कारण अपने भीतरी प्रेम तथा कुंठाओं को प्रत्यक्ष वाणी दे पाने में असमर्थ पाता है। अपनी व्यथा को छुपाये रखने केलिए सलमा से ब्याह कर हमेशा केलिए पाकिस्तान चला जाता है। अब्बास पाकिस्तान का समर्थन करता है पर पाकिस्तान जाता नहीं। जवाद मिया की अवैध सन्तान कम्मो भी सईदा को अत्यधिक चाहता है लेकिन अपनी हीन भावना के कारण उससे विवाह नहीं कर पाता है। इसी कारण अपना सारा समय हामियोपैथी की पढाई में बिताता है। सईदा वास्तव में पढने केलिए अलिगढ़ विश्वविद्यालय जाती है और सामाजिक निन्दा की शिकार हो जाती है, परम्परागत जीवन की विषमताओं, कुरूपताओं से विरक्त होकर वह अलिगढ़ में ही जीवन व्यतीत करना चाहती है। सफिरवा पाकिस्तान जाने में ही अपना तथा अपने परिवार का हित समझता है जबकि हकीम साहब अपने पारिवारिक सन्दर्भ में ही घटना क्रम को जाँचते है, ...ए बशीरा ई पाकिस्तान न हिन्दु-मुसलमान को अलग करे का बना रहा। बाकी हम त ई देख रहें कि ई मियां बीबी बाप-बेटा और भाई-बहिन को अलग कर रहा....।[2]

आधा गाँव की राजनीतिक चेतना

आधा गाँव का लेखक एक मुसलमान होने के बावजूद इसमें तत्कालीन मुसलमानी मानसिकता नहीं बल्कि इनसानियत की दृष्टि से स्थिति का विश्लेषण

---

1. राही मासूम रज़ा,. आधा गाँव पृ. 262
2. वही पृ. 297

किया गया है। उन्होंने एक तटस्थ भारतीय मुसलमान के रूप में सही संदेश प्रस्तुत किया है।उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या के समाधान के सन्दर्भ में इस बात की नितांत आवश्यकता है कि भारतीय मुसलमानों में धार्मिक चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना का भी सही अवबोध जगाना। वे भारतीय जन जीवन और राजनीति में खुलकर भाग लें। यह तब ही हो सकता है जब यहाँ के मुसलमान धर्म निरपेक्ष भारतीय गणतंत्र में आत्म विश्वास के साथ सहभागी बनें। आज भी भारत में रहने वाले मुसलमान मुस्लिम लीग का ही समर्थन करते हैं लेकिन हिन्दू समाज के अधिकांश लोग हिन्दू महासभा का समर्थन करते हुए नहीं दिखाई देता। इसका कारण यही है कि हिन्दू बुद्धिजीवी वर्ग ने धर्म और राजनीति को अलग-अलग मानने की भावना को समाज में प्रसारित किया है। मुस्लिम समाज में धर्म और राजनीति को अलग-अलग माननेवाला वर्ग बहुत ही कम होने के कारण आज भी परस्पर विश्वास के अभाव के कारण हिन्दू मुस्लिम दंगे होते ही रहते हैं। भारत में रहनेवाले मुसलमान जहाँ रहते हैं वहाँ की भूमि से अपना नाता मन से जोड़ ले तो परस्पर विश्वास की भावना अवश्य बढेगी और कभी सांप्रदायिक दंगे नहीं होंगे।

तमस - सांप्रदायिक विभीषिका का अनावरण

'झूठा सच' और 'आधा गाँव' में यशपाल और राही मासूम रज़ा ने जहाँ इतिहास के मोड पर हुई सांप्रदायिक विभीषिका के भुक्त भोगियों की त्रासदी का चित्रण किया तो इससे बिलकुल हटकर 'तमस' में भीष्म साहनी ने उन क्रूर शक्तियों का पर्दाफाश करने का काम किया है जो सांप्रदायिकता को फैलाती है और उस की चपेट में भोली-भाली जनता को डाल देती है। 'तमस' लाहौर के

आस पास की सिर्फ पाँच दिन की कहानी है जिस के तहत एक लंबा इतिहास छिपा हुआ है। साम्प्रदायिक उन्माद एवं घृणा ने जिस प्रकार राजनीतिक स्वार्थ के वश में पडकर विदेशी शासकों से मिलकर इस देश को दो टुकडे कर दिये उन सब की वास्तविकता इन पाँच दिनों की कहानी में छिपी हुई है।

'तमस' का पहला भाग साम्प्रदायिक तनाव की शुरुआत का है। दूसरे भाग में अनेक गाँव उपन्यास की परिधि में आ जाते हैं। लीग का समर्थक मुराद अली पाँच रुपया देकर नत्थू से एक सुअर को मरवा लेता है। फिर उसे एक मसजिद की सीढियों के पास चुपके से फेंक दिया जाता है। जब नत्थू को पता चलता है कि उसी से मारा गया सुअर मस्जिद में पडा पाया गया है और इसे लेकर शहर में दंगे हो गये हैं तो उसे भय लगता है। वह यह सोचकर अपने मन को तसल्ली देना चाहता है कि क्या ज़रूरी है कि यह वही सुअर है जो उसने मुराद अली केलिए मारा है। वह सोचता है कि मुराद अली खुद मुसलमान है, वह उससे सुअर मरवाकर कैसे मस्जिद मे फिंकवा सकता है। फिर भी वह सोचता है, "क्या दिन के वक्त सुअर को नहीं मारा जा सकता था? सालोत्तरी को मरे हुए सुअर की क्या ज़रूरत पड गयी। जरूर कहीं सुअर का माँस बेचने केलिए उससे मरवाया गया होगा। रात का व्यापार याद करके उसके बदन में सिहरन सी हुई।"[1] ऐसा सोचकर वह खुद आश्वस्त होना चाहता है। इसके बाद घटनाएँ अपने ढंग से घटती चली जाती हैं जिनपर किसी का नियंत्रण संभव नही हो पाया।

---

1. भीष्म साहनी,. तमस - पृ. 29

हिन्दुओं के पक्ष में धर्मदेव और बोधराज है जिनका मानना है कि शिवजी और राणा प्रताप की गरिमा को बुलन्द करना अपना धर्म है इसलिए म्लेच्छों से लडना और उनका नाश करना अनिवार्य है। वे सोचते हैं कि भारत की संस्कृति का नाश करनेवाला म्लेच्छ ही है। इसलिए "रणवीर की आँखों में बार बार म्लेच्छ धुन जाते हैं। पडोस में सडक के किनारे बैठा मोची म्लेंच्छ है, घर के सामने टाँगा करनेवाला गाडीवान म्लेच्छ है, मेरी ही कक्षा में पढनेवाला हमीद म्लेच्छ है। गली में मंज़ीफा माँगनेवाला फकीर म्लेच्छ है। पडोस में रहनेवाला परिवार म्लेच्छों का है।"[1]

उपन्यास कार यहाँ तत्कालीन सांस्कृतिक पतन की ओर इशारा करते हुए पन्द्रह वर्षीय किशोर रणवीर द्वारा मुर्गा मारकर धर्म-दीक्षा लेने के दृश्य को शब्द बद्ध करते हैं। उन्होंने यह भी दिखाया है कि कैसे किशोर मन को धर्म और संस्कृति के नाम पर गुमराह किया जा रहा है, "इधर दीवार के पास जाओ रणवीर और इस मुर्गी को काटो। दीक्षा से पहले तुम्हें अपनी मानसिक दृढता का परिचय देना होगा।"[2] धर्म-दीक्षा के नाम पर एक मासूम बच्चे को शिकारी बनाने का अमानवीय संदर्भ उपन्यासकार ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मुर्गी को काटने का दृश्य देखकर एकदम भयभीत रणवीर की स्थिति किसी को भी दिल दहलाने वाला अवश्य है, "तभी तो उन्होंने देखा कि रणवीर ने वहीं बैठे बैठे कै कर दी है और दोनों हाथों से अपना सिर पकडे बैठा हाँफ रहा है।"[2] मनुष्य संहार केलिए सेना तैयार कर रहे हैं धर्मांध लोग। इसकेलिए बच्चों को चुन लेते हैं कि उनमें

---

1. भीष्म साहनी,. तमस - पृ. 66
2. वही. पृ. 67

विवेक की कमी है और सोचने की शक्ति नहीं। वे जल्दी ही वश में आ जाते हैं, "एक और अवसर तुम्हें दिया जाता है। जो युवक एक मुर्गी को नहीं मार सकता वह शत्रु को कैसे मार सकता है।"[1] इस प्रकार हिंसात्मक चिंता धीरे धीरे मन में थोपने का कार्य चल रहा है। एक मुर्गी को मारने में हिचकने वाले रणवीर की सोच में एक ही दिन में परिवर्तन आ जाता है। वह हलवाई को कडाही से घायल कर डालता है। रणवीर के मन में हिंसात्मक विचार बल पकडने लगता है, "मारना मुश्किल नही है। इसे मैं आसानी से कत्ल कर सकता था। हाथ उठाया और बस। हाँ लडना मुश्किल होता है। वह भी जब अलग आदमी मुकाबला करने केलिए खडा हो जाए। पर छूरा भोंककर मार डालना आसान काम है, इसमें कोई मुश्किल नहीं।"[2]

कुछ और लोग हैं जो हिन्दु धर्म और संस्कृति ओढे हुए हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जो मुस्लिम लीग के प्रधान के साथ बैठे हुए गहरी उदासी में डूबे हुए संभावित खतरे का बयान करते हैं, "चीलें उडेंगी मेहताजी शहर पर चीलें उडेंगी।"[3]

"लगता है शहर में गडबड़ शुरू हो गयी है। पुल के पार एक हिन्दु को कत्ल कर दिया गया है, सभी बाज़ार बन्द हो गये है।"[4] बख्शी जी शहर के बढते तनाव को काबू में लाने केलिए डिप्टी कमीशनर को सुझाव देते हैं "अगर शहर

---

1. भीष्म साहनी, तमस – पृ. 68
2. वही पृ. 72
3. वही पृ. 80
4. वही पृ. 77

में पुलिस गश्त करने लगे, जगह जगह फ़ौज की चौकियाँ बिठा दी जाये तो दंग-फिसाद नहीं होगा, स्थिति काबू में आ जायेगी।"[1] एक छोटी-सी घटना के कारण हुए दंगों, अग्निकांडों और रक्तपातों पर प्रशासनिक शक्ति लगाने के फलस्वरूप अस्थायी शांती हो जाती है लेकिन निकट भविष्य में ही और भी भयंकर रूप से फूट निकले की संभावना को लेकर। इस प्रकार उपन्यासकार साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप उत्पन्न डरावनी स्थिति का चित्रण करते हुए मुख्यतः उस स्थिति के पीछे सक्रिय ताकतों को दिखाना अधिक चाहते हैं।

घटनास्थल का चयन

भीष्म साहनी ने घटना स्थल का चुनाव भी बडी सावधानी के साथ किया है ताकि भारत के महत्वपूर्ण सम्प्रदायों के व्यवहार का सच प्रस्तुत किया जा सके। शहर में आर्य समाज है, हिन्दु सभा है, गुरुद्वारा प्रबन्धन कमेटी है, कांग्रेस और मुस्लिम लीग है और कम्यूनिस्ट संगठन भी । इससे तत्कालीन राजनीति के प्रमुख अंगों को भरपूर स्थान मिला है। इनके साथ कालू ईसाई और अमरीकी पादरी, अंग्रेज़ डिप्टी कमीशनर और उसकी पत्नी प्रेमिका लीज़ा को जोड लेने पर देश की धार्मिक विविधता का पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है, "अगर फिसाद हो गया तो तुम मुझे बचाने आओगे? नाले के पार का सारा इलाका मुसलमानी है और मेरा घर नाले के सिरे पर है। फिसाद हो गया तो उस वक्त तुम मुझे बचाने आओगे? या बापूजी आकर बचायेंगे? उस वक्त तो मुझे मुहल्लेवाले

---

1. भीष्म साहनी, तमस पृ. 75

हिन्दुओं का ही आसरा है। छुरा मारनेवाला मुझसे यह तो नहीं पूछेगा कि तुम कांग्रेज में या हिन्दु सभा में थे।"[1]

हिन्दु-मुसलमान-सिक्ख के बीच बढती दरार

साम्प्रदायिक गडबडी की पहली झलक उपन्यास में तब मिलती है। जब मुसलमानों की बस्ती में जाकर कांग्रेसी द्वारा नाले की सफाई जिसे वे 'नामिरी काम' कहते हैं, करने लगते हैं।, तभी घरों से उन पर कंकड-पत्थर बरसने लगते हैं और बस्ती के लोग उन कांग्रेसी स्वयं सेवकों से बेरुखापन बरतने लगते हैं। उसके तुरंत बाद उन्हें मस्जिद के दरवाज़े पर सुअर का मांस फेंकने की घटना की सूचना मिलती है। वे साहस के साथ वहाँ जाकर मांस हटा देते हैं। पर तभी कुएँ की ओर उन्होंने देखा कि एक गाय भागती आ रही थी, उसके पीछे पीछे एक आदमी सिर पर मुँडासा बाँधे और हाथ में डंडा लिए भागता हुआ उसे हाँके ले जा रहा था। उसकी छाती खुली थी। मोटी मोटी चकित सी आँखें, डर के मारे उसकी पूँछ उठी हुई थी,"मुहल्लों के बीच लीके खिंच गयी थी। हिन्दुओं के मुहल्लों में मुसलमान को जाने की अब हिम्मत नहीं थी और मुसलमानों के मुहल्ले में हिन्दु-सिक्ख अब नहीं जा सकते थे। आखों में संशय और भय उतर आये थे। गलियों के सिरों पर और सडकों के नाकों पर जगह-जगह कुछ लोग हाथों में लाठियाँ और भाले लिए और मुश्के बंधे छिपे बैठे थे।"[2] मतलब है कि स्थिति में पहले से कहीं अधिक उग्रता आ गयी थी।

---

1. भीष्म साहनी,. तमस पृ. 81
2. वही. पृः 122

उपन्यास का सबसे प्रबल पक्ष है सम्प्रदायों की मनोवृत्ति और संघर्ष केलिए उनके उन्माद और उनकी तैयारी का सूक्ष्म और बहुरंगी चित्रण। मंदिर में साप्ताहिक सत्संग की समाप्ति पर वानप्रस्थी जी के प्रवचन की इति इस शायरी से समाप्त होती है।

"फैलाये घोर पाप यहाँ मुसलमान ने,
नेअमत फलक ने छीन ली दौलत ज़मीन ने"

प्रवचन के बाद अंतरंग की बैठक में सूचना दी जाती है कि जामा मसजिद में लाठियाँ, भाले और तरह-तरह का अमला बहुत दिनों से इकट्ठा किया जा रहा है। इसकी जवाबी कार्रवाई में रणवीर और उसके साथी 'दीक्षा' लेते हैं, शस्त्रागार बनाते हैं, तेल गरम करने केलिए कडाही न देने पर अपने ही धर्मभाई हलवाई पर प्रहार करते हैं, छुरा चलाने का अभ्यास करते हैं और अंत में इत्रफरोश की बलि ले लेते हैं।

अलबता शाहनबाज़ पढा-लिखा संपन्न तथा अफसरी पहुँचवाला मुसलमान है। अगर उसकी ब्यूक कार रात के अंधेरे में दंगे केलिए हथियार मुहय्या करती है तो दिन में उसके हिन्दु दोस्त को परिवार सहित सुरक्षित स्थान में पहुँचाती भी है। उसके चरित्र की जटिलता की ओर भी लेखक ने संकेत किया है। जब वह अपनी हिन्दु भाभी के गहने बचाने केलिए वे धडक उसके पुराने घर में घुसता है तो उसके हिन्दु नौकर पर प्रहार कर बैठता है। इस तरह के स्वाभाविक पुट देकर लेखक ने तत्कालीन पात्रों के चरित्र प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार खाई हुई कुल्हाड़ी केलिए लक्ष्मीनारायण की परेशानी, राजो का अपने घर में विधर्मियों को शरण देना आदि के चित्रण से उन चरित्रों की स्वाभाविकता को भी पाठकों के

सामने पेश किया है। इसी प्रकार भुलाए भी न भूलनेवाला एक अन्य जीवन्त पात्र है जरनैल सिंह जो 1930 से कांग्रेस का कार्यकर्ता है। वे भी अंत में दंगे में मारे जाते हैं।

अंग्रेज़ी कूटनीति

सांप्रदायिकता के ज़हरीले अंधेरे में फँसे हुए हिन्दू सिक्ख और मुसलमानों को तत्कालीन ब्रिटीश हुकूमत का प्रतिनिधि डिप्टी कमीशनर रिचर्ड चाहे तो अपने पहल से उन्हें बचा सकता था। क्योंकि इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता होने के कारण वे जानते थे कि ये लोग एक ही नस्ल के हैं जो मध्य एशिया से सबसे पहले यहाँ आये थे। शताब्दियों के बाद उन्हीं के नाते-पोते अन्य देशों से इधर आये। नस्ल सबकी एक ही थी। इस सच्चाई से अवगत लीज़ा उससे पूछती है "तुम तो रिचर्ड, यों बातें कर रहे हो जैसे यह तुम्हारा अपना देश हो।"[1] वह आगे पूछती है "तुम्हारे रहते फसाद हो गया, रिचर्ड?"[2] बखशीजी के शब्दों में फिसाद कराने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकनेवाला भी अंग्रेज़, भूखों मारनेवाला भी अंग्रेज़, रोटी देनेवाला भी अंग्रेज़, घर से बेघर करनेवाला भी अंग्रेज, घरों में बसानेवाला भी अंग्रेज़। अंग्रेज फिर बाजी ले गया, अंग्रेज फिर बाजी ले गया।"[3] ब्रिटीश हुकुमत की नीति और रवैये का मूल सूत्र समझाते हुए रिचर्ड कहते हैं "हुकुमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन सी समानता पायी जाती है। उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन किन बातों में एक दूसरे

---

1. भीष्म साहनी, तमस पृ. 35
2. वही पृ. 111
3. वही पृ. 223

से अलग हैं, मानवीय मूल्यों का कोई महत्व नहीं होता। वास्तव में महत्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।"[1] फिर आगे का उसका कथन तो ब्रिटीश हुकुमत की मंशा को और अधिक स्पष्ट कर देता है। "यह मेरा देश नही है, न ही ये मेरे देश के लोग हैं"[2], इसी कारण ये जब शिष्टमंडल के सदस्य उसे फौज की सहायता की सलाह देने जाते हैं तो वह टाल देता है, और नेहरू पटेल के पास जाने को कहता है। बचाव केलिए वह किंचित ध्यान देता भी है लेकिन तब तक ब्रिटीश हुकुमत का मनोवांछित फसाद हो चुका होता है। इस प्रकार सामाजिक स्थिति की इन सारी जटिलताओं को भीष्म साहनी ने बडी ही तार्किक, स्पष्ट एवं प्रामाणिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करके दिखा दिया है कि इन अमानवीय वृत्तियों के पीछे सक्रिय शक्तियाँ कौन कौन सी हैं?

टोपी शुक्ला

हिन्दू- मुस्लिम समस्या स्वतंत्रता के बाद भारत केलिए एक सरदर्द बन गयी थी। देश की शांति भंग हो चुकी थी। एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इस वातावरण में जन जीवन को सुगम बनाना कठिन कार्य बन गया था। इस अशांति के कारणों से अवगत रचनाकार रज़ा ने अपने उपन्यासों में इसका विश्लेषण करने का कार्य किया है। 'टोपी शुक्ला' ऐसे एक प्रयत्न का परिणाम है।

---

1. भीष्म साहनी, तमस पृ. 223
2. वही. पृ: 223

सांप्रदायिक शोषण

"टोपी शुक्ला" की कहानी अपने समय की सार्थक कहानी है। टोपी और इफ्फन इसके मुख्य पात्र हैं। टोपी जब अलिगढ़ यूनिवर्सिटी आये वे जनसंघी थे। धीरे धीरे मुस्लिम लीगी बन गये। युनिवर्सिटी की राजनीति देश की राजनीति से कम भयंकर नहीं है। इस राजनीति में जीवन भी बिगड़ जाने की संभावना है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है टोपी। यूनिवर्सिटी में केवल मौका परस्ती चलती है। इसलिए सकीना टोपी से कहती है "तुम लेक्चरर के लेक्चरर रह जाओगे, यहाँ मजनूँ गोरखपुरी को जगह नहीं मिलेगी और ख्वाजा मसउद अली जी की यों तरक्की मिलेगी। यह मुल्क अब्बास मुस्तफाओं, जज़्बियों, भ्रमरों और नूरुल हसनों केलिए है। उस मुल्क में टोपियों और इफनों केलिए कोई जगत नहीं है।"[1] शिक्षा संस्थाओं में और पूरे समाज में सम्प्रदायिकता के नाम पर शोषण होता रहता है। भारत विभाजन के पश्चात इफ्फन टोपी से मिलता है। टोपी को स्कोलरशिप नहीं मिला। वह एक मुस्लिम लड़के को मिला। टोपी को अपनी संस्कृति से प्रेम है तो इफ्फन डर के मारे हिंदुओं से नफरत करता था। 'नफरत' 'शंका' 'डर' इन तीन डोंगियों पर हम नदी पार कर रहे हैं। यही तीन शब्द बोये और काटे जा रहे हैं, "वही शब्द दूध बन माँओं की छातियों में बच्चों के हलक में उतर रहे हैं। दिलों के बंद किवाड़ों की दराजों में यही तीन शब्द झाँक रहे हैं।"[2] एक देश में रहकर हिंदु मुसलमान से और मुसलमान हिन्दु से नफ़रत करता है। भीतर ही भीतर परस्पर डरते हैं। शक किया जाता है। राजनीति ने देश का

---

1. राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला - पृ. 52
2. वही. पृ. 82

विभाजन कर भारत और पकिस्तान ही नहीं बनाया, इन्सानों के बीच दीवार भी खड़ी कर दी।

भारतीय मुसलमानों के विचार

हिन्दु मुसलमानों के बीच विद्वेष की भावना बढ़ रही है। दोनों धर्मियों में दंगे फसाद होते रहते हैं। "ढाके से पेशावार तक जिंदगी के खलियानों में आग लगी हुई थी। कटी हुई फसलें भी जल रही थी। खड़ी फसलें भी जल रही थी।"[1] मोटे तौर पर पिछले बीस वर्षों में दो हज़ार से अधिक दंगे विभिन्न प्रदेशों में हुए है। भारत-पाकिस्तान विभाजन के बाद भारत में बसनेवाले मुसलमान के मन का विचार क्या है इसकी ओर उपन्यासकार ने इशारा किया है। क्या उनके मन में भारत के प्रति सच्चा प्रेम और लगन है या अब भी पाकिस्तान के प्रति ममता बनी हुई है, "हिन्दुस्तान पाकिस्तान में क्रिकेट के मैच हो तो यहाँ के लड़के मसजिदों में भीड लगा देते हैं दुआ माँगने केलिए। इन इडियट लोगों को यह तक तो पता नहीं कि यहाँ अल्लाहमिया का जूरिसडिक्शन नहीं है और हो भी तो तुम पाकिस्तान जीतने की दुआ क्यों माँगते हो भाई।"[2] इफ्फन इन बातों के अपवाद है वह एक नेक दिल इंसान है। वह पाकिस्तान नहीं जाना चाहता। उसका दोस्त टोपी कहता है "जिस देश की यूनिवर्सिटी में यह सोचा जा रहा है कि गालिब सुन्नी थे या शिया और रसखान हिंदु थे या मुसलमान, उस देश में पढाने का काम नहीं करूँगा।"[3] धर्म को लेकर इफ्फन की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। मतलब कि सब

---

1. राही मासूम रज़ा,. टोपी शुक्ला - पृ. 52
2. वही पृ. 106
3. वही पृ. 142

के सब सांप्रदायिकता का समर्थक नहीं। धर्म का सही अर्थ समझने वाले इफ्फन जैसे लोग देश में तथा जनता में शांति की कामना ही रखते हैं।

सामाजिक ढाँचा

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी जो साप्रदायिकता का गढ़ है वहाँ टोपी के आने के कारणों पर नज़र डालने से विदित होता है कि इस विश्वविद्यालय में मुसलमान नौजवान किस तरह के ख्वाब देखता है। आज का हमारा सामाजिक ढाँचा ही कुछ ऐसा हो गया है कि हिन्दु और मुसलमान, टोपी और इफ्फन सच्चे दोस्त नहीं बन सकते। टोपी का इफ्फन के यहाँ रहना लोग सह नहीं सकते। वे अफवाहें प्रसारित करने लगते हैं। सकीना टोपी से फँस गयी है, जो हिन्दु है। इसी बात को लेकर निकम्मे लोग बहस करते रहते हैं। एक स्थान पर इफ्फन टोपी से कहता है टोपी तुम हिन्दु क्यों हो? या फिर मैं मुसलमान क्यों हूँ? क्यों? यह भी कितना अजीब शब्द है। मनुष्य को जवाब देने पर मजबूर कर देता है। परंतु किसी के पास जवाब न हो तो? वह क्या करें आखिर क्यों?"[1] इस प्रकार हिन्दु-मुस्लिम समस्या हमारा पीछा नहीं छोड़ता। खुद उपन्यासकार ने भी लिखा है, "मनुष्य मौत को जीत सकता है, परन्तु प्रश्न को नहीं जीत सकता, कोई न कोई प्रश्न दुम के पीछे लग ही रहता है"[2] जन्म कोई श्रेष्ठ कनिष्ठ नहीं ठहरता, वह तो कर्म से सिद्ध होता है। जन्म से कोई उच्च-नीच हिन्दु-मुसलमान नहीं होते। राही का यह मत भी विचारणीय है।

---

1. राही मासूम रज़ा,. टोपी शुक्ला - पृ. 86,87
2. वही पृ. 89

"गांधी जी भी बेनाम पैदा हुए थे और गोडसे भी। जन्म लेने केलिए आज तक किसी को नाम की जरूरत नहीं पडी है। पैदा तो केवल बच्चे होते हैं। मरते मरते वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, नास्तिक, हिन्दुस्तानी, पाकिस्तानी, गोरे, काले न जाने क्या क्या हो जाते हैं।"[1] यह बात तो सही है कि जनमते ही कोई अपने माथे पर जातीसूचक सिक्के लगाकर नहीं आता। लेकिन समाज में जीते जीते वह एक से एक हो जाता है और पाशविक कर्म करने से भी हिचकते नहीं।

राजनीतिक दलों की कपटता

उपन्यास का प्रमुख पात्र टोपी बीच-बीच में राजनीतिक दलों पर भी टिप्पणी करता है। जनसंघ और महासभा के संबन्ध में उनके व्यंग्यपूर्ण उद्‌गार यों है "भैरव अवश्य ठीक कह रहा है। नाम है जनसंघ और देश के किसी देहात में इस पार्टी का आफिस तक नहीं है। इसका काम जनसंघ नहीं बनिया संघ होना चाहिए भैया"[2] राष्ट्रीय स्वयंसेवक की विचारधारा पर भी रचनाकार ने प्रकाश डाला है। टोपी को इन्हीं लोगों से मालूम पडा कि किस प्रकार मुसलमानों ने देश का सत्यानाश किया है। देश का बंटवारा करवाया है। "पंजाब और बंगाल में लाखों हिन्दु बूढों और बच्चों को कितनी बेदर्दी से पीटा है। औरतों की लाज लूटी और क्या क्या नहीं किया इन मुसलमानों ने। ये जब तक देश में है, देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए मुसलमानों को अरब सागर में ढकेल देना हर हिन्दु नवयुवक का कर्तव्य है।"[3] एक मुसलमान उपन्यास कार होने पर भी तत्कालीन तथ्य को उभारने में अन्याय नहीं किया है।

---

1. राही मासूम रज़ा,. टोपी शुक्ला - पृ. 98
2. वही. पृ. 118
3. वही. पृ. 49-50

टोपी उपन्यासकार की दृष्टि में न कोई देवता है न ही पैगंबर। वह एक इन्सान है। किंतु उसने कोंप्रमाइस नहीं किया। इसीलिए उसने आत्महत्या कर ली। टोपी की भूमिका में कराया गया यह परिचय सत्य है। टोपी शुक्ला केवल उपन्यास ही नही, सच्चाई है, वास्तविकता है, यथार्थ है। डॉ सुभद्रा के शब्दों में "लेखक स्वयं मुसलमान है और हिन्दु वातावरण और हिन्दू मित्रों के बीच रहकर उसकी अनुभूतियों और अनुभव अपने आप में प्रामाणिक है। बिना किसी आग लपेट के सच बोलना, एक तीखा ईमानदार सच बोलना राही मासूम रजा के तटस्थ दृष्टिकोण का प्रतीक है।"[1] हिन्दु मुस्लिम समस्याओं का इतना जीवंत चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

एक और मुख्यमन्त्री

श्री यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'एक और मुख्य मंत्री' आधुनिक राजनीतिक यथार्थ के चित्रण से मार्मिक बन गया है। यह देश के राजनीतिक जीवन के बीस वर्षों की गाथा है। स्वतंत्रता के साथ ही देश का विभाजन हुआ और हिन्दू मुसलमान शराणार्थी बनकर भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत आने जाने लगे। देश स्वतंत्र हुआ लेकिन साथ ही वह टुकडे भी हो गये। यह एक अप्रिय किंतु कठोर सत्य रहा है। देश की स्वतंत्रता ने पहले विभाजन की स्थिति पैदा की तो बाद में जिसकी अनिवार्य नियति के स्वरूप शरणार्थी समस्या भी उठ खडी हुई। पाकिस्तान से शरणार्थी भारत में आ रहे थे, उस समय का वर्णन लेखक के शब्दों में दर्शनीय है

---

1. डॉ सुभद्रा,. हिन्दी उपन्यास परम्परा और प्रयोग पृ. 321

"देश स्वतंत्र हो चुका था। शरणार्थी पाकिस्तान से बड़ी संख्या में आ रहे थे। राष्ट्र के महान नेता जवहरलाल नेहरु, पुरुषोत्तमदास टंडन, राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद, आचार्य कृपलानी, राम मनोहर लोहिया, श्याम प्रसाद मुखर्जी, एस.के. डांगे, जयप्रकाश नारायण, महात्मा गाँधी आदि नेताओं के ओजस्वी भाषण उन थके-हारे पीड़ित शरणार्थियों को साहस बंधा रहे थे। पर वे इतने अधीर हो उठे थे कि उनका विश्वास और उनकी आस्थाएँ टूट गयी थीं। मानवता के विशाल वक्ष पर सांप्रदायिकता का जो नंगा-नाच हो रहा था, वह द्वितीय महायुद्ध की उस घटना का स्मरण करा देता था जब हिटलर जैसे तानाशाह ने यहूदियों पर नंगे जुल्म किए और उन्हें जर्मनी छोड़ने को बिवश किया था। हिंदू बड़ी संख्या में अपनी अपनी जन्मभूमि से आ रहे थे और मुसलमान जा रहे थे।"[1]

साम्राज्यवाद की आलोचना

उपन्यासकार 'एक और मुख्यमंत्री' में बीस साल की कहानी हमें बता रहे हैं। उसके दौरान उन्होंने साम्राज्यवाद के प्रति अपना घोर विरोध प्रकट किया है। अंग्रेज़ों ने जो चाल चलाई वह काम आयी। इसी के कारण ही जिन्ना जैसे मुस्लिम नेता को भडकाकर अलग मुस्लिम देश 'पाकिस्तान' की मांग करवाई और अलग राष्ट्र के रूप में 'पाकिस्तान' का जन्म हुआ। यादेवन्द्र शर्मा ने इसके संबंध में अपना मत यों प्रकट किया है, "साम्राज्यवाद के पोषक और कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों की चाल ने जिन्ना जैसे मुस्लिम लीग के नेता को भडकाकर 'इस्लाम खतरे

---

1. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' एक और मुख्यमंत्री पृ. 19

में है' जैसे धार्मिक नारों को बुलन्द करवाया, जिसने पाकिस्तान का निर्माण कराया, उसने हिन्दुओं में हिन्दुत्व की भावना को तीव्र कर दिया।"[1]

साम्प्रदायिकता का उल्लेख

सांप्रदायिकता के नाम पर अनेक प्रांतों में दंगे फसाद हो रहे हैं। हिन्दू-सिक्ख और मुसलमान जातीयता के नाम पर एक दूसरे का खून कर रहे हैं। वे अपने आप को खोखला बना रहे हैं। साथ ही राष्ट्रीयता की भावना और राष्ट्र को कमज़ोर करके उसके विकास में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। हिन्दू और सिक्खों का जो साम्प्रदायिक दंगा हुआ इसके संबंध में अरविन्द सोचता है, "उसे लगा कि सारे के सारे लोग उजाले के नाम पर अंधेरे में जा रहे हैं, वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर आध्यात्मिक अवनति में गिर रहे हैं, सम्पूर्ण विकास के नाम पर छोटी-छोटी संकीर्णता में बंट रहे हैं। राष्ट्र की एकता का नारा एकदम खोखला हो रहा है। उसे कैसे संभाला जाय? उसने नेत्र मूंद लिये, उसने सोचा कि एक बार उसे देश का एकमात्र डिक्टेटर बना दिया जाय तो वह इन सभी समस्याओं का राष्ट्रीय स्तर पर समाधान प्रस्तुत कर दे। अगर ऐसा ही चलता रहा तो देश में अराजकता फैल जाएगी, उसकी अखण्डता टूट जाएगी। ओह मेरे देश के लोगों, आप को यह क्या हो गया है।"[2] जब जनता में साम्प्रदायिकता की भावना अपने घृणित रूप में उपस्थित होती है तब राष्ट्र का पतन आरम्भ हो जाता है, "पंजाबी सूबे को लेकर जो अकाली दल के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने जातीयता, प्रांतीयता व साम्प्रदायिकता का विष वमन किया था, वह देश केलिए कितना घातक सिद्ध हुआ। सिक्खों का

---

1. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' एक और मुख्यमंत्री पृष्ट 19
2. वही पृ. 221

अलग प्रांत और हरियाणा अलग। कितनी भयानक स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं।"[1] उपन्यासकार ने तत्कालीन तनावग्रस्त स्थिति का परिचय देने की कोशिश की है। सिक्खों और हिन्दुओं में विशेषकर आर्यसमाजी और जनसंघी विचारधारा के लोगों के बीच के तनाव ने हिंसा का रूप धारण कर लिया था। जो आगे बढकर दंगा फसाद का कारण बना।

साम्प्रदायिक सदभावना की अपेक्षा

'एक और मुख्यमंत्री' में बतलाया गया है कि हिन्दुस्तान अनेक जातियों का निवास स्थान है। यहाँ लोगों में धार्मिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राजनीतिक समन्वय बिठाना जरूरी है। इसके बिना राष्ट्र की एकता का सवाल ही नहीं उठता है। नायक अरविन्द हिन्दु महासभा के सदस्यों के सामने कहता है, "ताकत और शासन धर्म को सनातन नहीं बना सकते, धर्म को शाश्वत बना सकती है तो उसकी अच्छाइयाँ, उसकी सहिष्णुता और उसकी विशाल एकत्व भावना।"[2] गणतंत्र दिवस के अवसर पर अरविन्द अपने देश के गौरवशाली अतीत, स्वतंत्रता संग्राम और उसके पश्चात् देश की एकता तथा अखण्डता के बारे में कहता है, "सन् 1947 में हमें अन्यत्र त्याग और संघर्ष के पश्चात् राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई और 26 जनवरी 1950 को अनेक कठिन संघर्षों के पश्चात् हमारा देश सर्व प्रभुत्व सम्पन्न जनतंत्र घोषित हुआ था। हमारी यह वास्तविक स्वतंत्रता की मंजिल थी। इसी ने हमारे जनजीवन को जाति धर्म, रंग के भेदभाव से मुक्त समानता प्रदान की। आज भारत के प्रत्येक नागरिक केलिए सामाजिक, राजनैतिक व

---

1. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' एक और मुख्यमंत्री पृ. 216-217
2. वही पृ. 26

आर्थिक क्षेत्र समान रूप से खुले हैं और उसे न्याय प्राप्त होने के समान अधिकार प्राप्त है। अवसर और स्थिति की समानता और विचारों की अभिव्यक्ति तथा संगठन की स्वतंत्रता की यह वर्षगांठ है। अतः हम सभी इसका आभिनंदन करते हैं और भविष्य में लोक कल्याण की भावना केलिए इसकी नींव को मज़बूत करने का संकल्प करते हैं।"[1]

देश भक्त मुसलमानों का समर्थन

एक और मुख्यमंत्री में उपन्यासकार ने हिन्दुस्तानी मुसलमानों में राष्ट्रीय भावना के प्रति जो लगाव है उसे साबित करने की कोशिश की है। उनकी राय में भारतीय मुसलमान साम्प्रदायिक होने की तुलना में पक्के राष्ट्रवादी है। एक पत्रकार कथानायक अरवीन्द से कहता है "सिर्फ इसलिए कि हम किसी को चोर नहीं कह सकते कि काश्मीर हमारा है। पाकिस्तान हमारा तब तक दुश्मन रहेगा जब तक वह काश्मीर के बारे में अनर्गल आलाप करना बंद नहीं करेंगे। आप देख लीजिए एक दिन पाकिस्तान अमेरिका और ब्रिटेन की गुप्त सैनिक सहायता के प्रोत्साहन से हमारे देश पर हमला करेगा। ...यहाँ मुसलमान देशद्रोह करेंगे।"[2] पत्रकार की इस बात के ठीक जवाब में और हिन्दुस्तानी मुसलमानों की राष्ट्रवादी भावना तथा देशभक्ति के बारे में अरविंद यों कहता है, "नहीं नहीं भारतीय मुसलमान ऐसे नहीं है। वे पक्के राष्ट्रवादी है। देशभक्त है। मिस्टर तनेजा, क्या रूस में मुसलमान नहीं है।"[3] राही मासूम रज़ा ने भारत में रहने वाले

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र एक और मुख्यमंत्री पृ. 138
2. वही. पृ. 216
3. वही. पृ. 217

मुसलमान लोगों की देश के प्रति ममता को हिन्दु धर्मावलंबी द्वारा दर्शाने की कोशिश की है।

प्रस्तुत उपन्यास के द्वारा अन्यासकार ने स्वातंत्रयोतर भारत के विघटनशील परिवेश और पतनशील नेतृत्व का यथार्थ चित्रण करने के साथ साथ विभाजन से संबंधित घटनाओं का विवरण भी प्रस्तुत किया है। विभाजन की समस्या ने ही हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्धों में एक बहुत बड़ी दीवार खडी कर दी थी। दोनों जातियों के साम्प्रदायिक दंगों की तीव्रता इस घटना के बाद बहुत तेजी से बढ़ी। इसके विपरीत अंग्रेजों के ही काल में देशी रियासतों में हिन्दु-मुस्लिम एकता घनिष्ठ थी। दंगा फसाद की बातें कभी-कभी इक्का-दुक्का ही हुआ करती थीं। विभाजन के बाद सारा चित्र बदल गया। इस बदलते चित्र को यथार्थ परक दृष्टि में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में उपन्यासकार ने कोई भूल नहीं की है। इस उपन्यास में यथार्थ जीवन का चित्रण किया है, कल्पना सिर्फ इन बातों को सजाने की है। खुद उपन्यासकार के शब्दों में "देश के राजनैतिक जीवन की बीस वर्षों की यह गाथा है- मेरा उपन्यास"[1]

कितने पाकिस्तान

गलत विचारधारा का परिणाम

पाकिस्तान विभाजनों का एक प्रतीक मात्र है चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त। समय ही साक्षी है कि पाकिस्तानों को बनाने का उपक्रम अनादिकाल से अब तक जारी है। सारी पुरानी सभ्यताओं के पुरोहितों और ब्राह्मणों ने अपनेलिए

---

1. श्रीमति. बसंती पंत,. हिन्दी उपन्यास रचना विधान और युग-बोध - पृ 38

अलग पाकिस्तानों को जन्म दिया था। आधुनिक सन्दर्भ में यूगोस्लाविया, इराक, आफगानिस्तान, टुकडों में बंटे सोवियट यूनियन या वर्तमान रश्यन फेडरेशन और खुद पाकिस्तान आदि देशों में अलग अलग 'पाकिस्तानों' की माँग हो रही है। इन दिगंतव्यापी पाकिस्तानों की सच्चाई की तह तक जाकर उसकी गहराई को जाँचने और परखने की कोशिश बहुत कम ही हुई है। इस प्रयास में भारत-पाकिस्तान विभाजन को नमूने के तौर पर प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने दर्शाया है।

जिस सभ्यता और संस्कृति के पास मित्रता की गरमाहट और प्रेम की मर्यादा न हो, उसका विकास सम्भव नहीं है। घृणा और ईर्ष्या के आधार पर कोई नवनिर्माण नहीं किया जा सकता। केवल मनुष्य, समाज और देशों को ही बांटा जा सकता है। धर्म और संस्कृति का घोलमेल भी अनेक त्रासदियों को जन्म देता है। धर्म व्यक्तिगत होता है, संस्कृति सामूहिक होती है। वह धर्म और संप्रदाय से ऊपर उठकर मानव को एकता के सूत्र में जोडने वाली शक्ति है। संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील और विकासमान होती है। जब यह इन दोनों गुणों से वंचित हो जाती है तब वह जड़ और रूढि बन जाती है। बहुत से लोग जड संस्कृति को गले में हार बना कर पहनते हैं और इस पर गर्व भी कर रहे हैं। पाकिस्तान का निर्माण भी धर्म का राजनीति में प्रयोग, संस्कृति की गलत व्याख्या, सद्‌भाव और प्रेम के मूल्यों का ह्रास तथा आपसी अविश्वास के कारण हुआ। संस्कृति और धर्म का सत्ता प्राप्त करने में दुरुपयोग करने से अनेक त्रासदियों का जन्म हुआ है। देश का विभाजन इसी गलत विचारधारा का परिणाम था। कमलेश्वर के उपन्यास में बार बार यह गूँज स्पष्ट सुनाई देती है कि धर्म और संस्कृति का दुरुपयोग कई विभाजन का कारण बन सकता है। यदि मानव विरोधी प्रवृत्तियों को न रोका गया

तो कई पाकिस्तान बनेंगे। हिन्दुस्तान में ही नहीं, दूसरे उन देशों में भी जहाँ बहु धर्म लोग एक साथ रहते हैं। भाईचारा, सद्भाव साथ जीने की इच्छा शक्ति ही लोगों को एक रखती आयी हैं।

इतिहास का विश्लेषण

हमारे इतिहास की मान्यता यह है कि भारत विभाजन के मूलकारण मुस्लिम लीग और जीन्ना के कठमुल्लापन और मउण्ट बैटन और अंग्रेज़ी हुकुमत की मज़बूरी है। फिर आगे कुछ नहीं यानी इतिहास चुप हो जाता है। अदीबे अलीया इस बात की याद दिलाता है कि भारत केलिए विदेशियों का आक्रमण और शासन कोई नई बात नहीं थी। वक्त ही गवाह है कि ईसापूर्व तीसरी सदी के सिकन्दर के अभीयान से लेकर शक, हूण, अफगान और तुर्कों ने भारत पर आक्रमण और शासन किया था। सिर्फ अंग्रेजों ने मजहब के तहत हमारे कौम और तहजीब याने संस्कृति का बंटवारा किया था। उस मुल्क की साझी संस्कृति, और भाषाई व मजहबी विविधता का नाजायज़ फायदा भी उन्होंने उठाया। इतिहास की सच्चाई के उन्मीलन केलिए अदीबे अलिया अदालती तरीका अपनाता है। इस अदालत की एक विशेषता यह है कि इस मामले से जुडे सभी लोग चाहे वे जिन्दा हो या मुर्दा, पेश किये जाते हैं और दूसरी वह हिन्दुस्तान की अदालतों के समान कब्रिस्तान नहीं है। उपनिवेशी शासन के बाद भी अपने हितों की पूर्ति केलिए अंग्रेज़ों द्वारा किये गये हीन मार्गों को अदीब अपनी नैतिक अदालत में बेपर्दा करता है, "अदीब की अदालत मनुष्य की शाश्वत अदालत है। कानून के नाम पर धर्म का व्यापार करनेवालों के पास इतना साहस नहीं है कि वे अदालत में हाज़िर हो सकें।"[1]

---

1. कमलेश्वर,. कितने पाकिस्तान पृ. 47

अदालती खोज

अदीब की अदालत यह निर्णय तर्क संगत लगाता है कि भारत विभाजन केलिए ब्रिटीश साम्राज्यवाद 50 प्रतिशत ही जिम्मेदार है। 30 प्रतिशत मुस्लिम लीग और मुहम्मद अलि जिन्ना, 20 प्रतिशत हिन्दू सांप्रदायिक शक्तियों और कोंग्रेस की जिम्मेदारी आती है। सिद्धांत जब सत्ता और स्वार्थ की बलिवेदी पर कुर्बान हो जाते हैं तो मानव मूल्य और राष्ट्र आँखों से ओझल हो जाते हैं। ऐसा ही कुछ जून 1947 में हुआ। माऊंटबेटन की बिछाई हुई बिसात के सबसे बड़े मोहरे जिन्ना थे। सरदार पटेल, नेहरु और आचार्य कृपलानी उसी शतरंज के खेल में शामिल थे। माऊंटबेटन से जिन्ना साहब एक सप्ताह का समयं मांगते हैं, सोचने केलिए लेकिन ब्रिटीश साम्राज्य को सोचने की आवश्यकता नहीं थी। जिन्ना से कहता है कि "इतना वक्त बरबाद नहीं किया जा सकता" "लगता है आप उससे ज्यादा जल्दी में है," जिन्ना ने उत्तर दिया।

"मिस्टर जिन्ना आप पाकिस्तान माँग रहे थे। दुनिया जानती है पाकिस्तान कभी नहीं बन सकता। लेकिन ब्रिटीश सरकार तश्तरी में रखकर आप को पेश कर रही है। जिन्ना साहब खामोश रहे कुछ बोले नहीं।"[1]

इस उपन्यास की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि विगत विभाजनों की वजह को ज़ाहिर करके वह खत्म नहीं होता है। अयोध्या जैसी वर्तमान लहुलुहान वास्तविकता से इस विषय को जोडकर देखा गया है जो आगामी विभाजनों के बारूद है। उपन्यासकार भली-भाँति जानते हैं कि अयोध्या समस्या का संबध धर्म

---

1. कमलेश्वर,. कितने पाकिस्तान पृ. 55

से कम और राजनीति से ज्यादा है। मजहब और सियासत यानी धर्म और राजनीति को मिलाने का अंजाम खतरनाक है। ऐसा कार्य आज़ाद-ए-जंग के दौरान् भले ही अंग्रेजी शासकों की साज़ीश के तहत ही सही, हमारे कमनज़र नेताओं ने किया। मज़हबी सियासी के नापाक गलबाही रिश्ते के अंजाम को अनदेखा करके भारत के सत्तासीन शासक वर्ग आज भी वही गलत रास्ता अपनाते हैं। सांप्रदायिक दंगों को उकसाकर अपने मतलब निकालने वाले उन फिरंगी दरिंदों और आज उनके उत्तराधिकारियों के तौर तरीकों में फर्क नहीं के बराबर है। इसलिए आज़ाद भारत की बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित भुखमरों केलिए आज अयोध्या सबसे बडी समस्या बन जाती है। अयोध्या के संदर्भ में उपन्यासकार ने बडी बारीकी से इतिहास का अध्ययन और अनुसन्धान किया है। सत्ताकेन्द्रों द्वारा प्रायोजित इतिहास हमें किस कदर तक सच्चाई से दूर ले जाता है इसका एक नमूना है बाबर द्वारा अयोध्या में राममन्दिर का मिस्मार करके वहाँ बाबरी मस्जिद बनाने का कार्य। इस दुरभिसन्धि को बेपर्दा करते हुए कलमेश्वर भारत की सामासिक संस्कृति के आगे सबसे बडी चुनौती बने नव-फासीवादी ताकतों का नाम लेकर शिनाख्त करते हैं। बताया गया है कि कमल सचमुच खून के तालाब में उग आया कमल है। सोमनाथ से रथयात्रा निकालकर, अयोध्या में मस्जिद गिराकर तथा पोखरान् में अणुपरीक्षण करके शक्तिपीठ की स्थापना का सपना देख रहे हैं हमारे वर्तमान सत्ताधारी। भारतीय सांस्कृतिक, राजनीतिक आबोहवा आतंक और संश्लिष्टता के साथ उभर आया है। उपन्यास में यह बात भी स्पष्ट है कि सांस्कृतिक संकट की भी एक वजह नव फासीवाद है तो दूसरी, साम्राज्यवाद द्वारा प्रायोजित नव उपनिवेशवाद है।

'कितने पाकिस्तान' को कब तक पाकिस्तान कहा जा सकता था। क्यों बनते है ये पाकिस्तान? दुनिया भर में कौन बनाता है ये पाकिस्तान? उनके बनने का सिलसिला जारी क्यों है? इन और इसी तरह के सवालों के जवाब तलाशने को उपन्यासकार दुनिया भर की पौराणिक गाथाओं से लेकर मिथकों, लोक कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और दुर्घटनाओं का एक बिल्कुल नए ढंग से विश्लेषण करते हैं। वे मानों इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "वक्त को पीछे ले जाने से पाकिस्तान बनता है।" वरिष्ठ पत्रकार निखिल चक्रवर्ती को उद्धृत करते हुए कहते हैं यह छूत का रोग है। जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती तब तक इस धरती पर पाकिस्तान बनाए जाने की नृशंस परंपरा जारी रहेगी। इस बेरहम खेल के बारे में यहूदी लेखक एवं चिंतक का यह कथन काफी विचारणीय है, नफरत ही जब आदमी को पहचान देती है। नफरत से आदमी और उसके समुदाय पहचाने जाने लगते हैं, नफरती एकता केलिए अतीत काम आता है। अतीत का दंश, गौरव और वे स्मृतियाँ जो कसकती, दुखती और रिसती है... इतिहास को भी अतीत के अग्निकुण्ड में झोंक दिया जाता है। इतिहास का विश्लेषण, उसकी सामाजिक व्याख्या मनुष्य की घृणा को तर्क से शामिल करती है, पर अतीत तर्क की पद्धति को स्वीकार नहीं करता वह केवल आंशिक सत्यों को स्मृति की कहानियों में बदल देता है और उसे सदियों जीवित रखता है। नफरत एक ऐसा स्कूल है जिसमें पहले खुद को प्रताड़ित, अपमानित और दंशित किया जाता है उसे घृणा की खाद से सींचा जाता है और तब उसकी स्मृति को एकात्म करके प्रतिशोध के नुकीले हल से जोतकर हमवार किया जाता है। इसलिए घृणावादियों के तर्क इकहरे और एक से होते हैं उनके पास अधिक

बातें नहीं होती, वे हज़ारों-लाखों मुखों से एक ही स्वर में बोलते हैं, एक से प्रश्न उठाते हैं, एक सी दलीलें देते हैं। यही उनकी एकता की पहचान बन जाती है।

हमारे इस भारतीय उपमहाद्वीप में पिछले लगभग सौ वर्षों से इन घृणावादियों हिन्दु और मुसलमान साम्प्रदायवादियों- की यही पहचान बनी हुई है, और यह उनको अंग्रेज़ों ने दी थी। धर्म के नाम पर विभाजन करके ही इस कौम पर नियंत्रण रखा जा सकता था। उसका उद्देश्य था - नियंत्रण द्वारा आत्माओं को तोडा जाना फिर उन्हें विभाजित किया जाना है। इनकी सांस्कृतिक प्रतिरोध की शक्ति विखंडित की जाती है और तब बाज़ारवादी झोंके इस विभाजित कौम का सब रक्त चूस लेती है। खंडित संस्कृति के श्मशानों में तब उत्सव के बाज़ार स्थापित होते हैं धर्म और इतिहास शोषकों के हाथों में खिलौना बन कर नाचते गाते हैं, जश्न मनाते और अपने ही विभाजित अंश के शत्रु और विनाश के कारण बन जाते हैं।

उपनिवेशवादी दौर का असर

गुलामी और शोषण के इस नवउपनिवेशवादी दौर का सबसे बड़ा खतरा यह है कि दुश्मन सामने नज़र नहीं आता। तमाम देशों के सत्तासीनों से इसका गठबन्धन है। तीसरी दुनिया के गरीब देशों की शासन व्यवस्था चाहे लोक शाही हो या फौजी तानाशाही वहाँ के सत्तासीन वर्ग की कुल मानसिकता शोषणकारी है। वे तमाम विरोधी आवाज़ों और प्रतिरोधों को दहशत के तले दबाते हैं। दूसरे विश्वयुद्ध में हार मान चुके जापान में अणुबम बरसाने वाले अमेरिकियों के हैवानी तंत्र को उपन्यास में बडी बारीकी से अदीब के बहाने अनावृत किया गया है। शांति यात्रा की आड़ में बारी बारी से अणुपरीक्षण करनेवालों के मक्सद को इसी

परिप्रेक्ष्य में आंकना जायज़ है। पूँजीवाद का वर्तमान दौर, भूमण्डलीकरण और उपभोग संस्कृति का है। इसके केन्द्र में बाज़ार है। पुराने और वर्तमान बाज़ार का फर्क यह है कि मांग और आपूर्ति का अर्थशास्त्रीय सिद्धांत आज अनुपादेय हो गया है। पूंजीवाद ने ऐसी एक संस्कृति को विकसित किया है कि खरीदार अपनी जरूरत की चीज़ खरीदने के बजाय ऐसी गैर जरूरी चीजें खरीदने को मज़बूर हो जाता है। इतना ही नहीं खरीदने के उपरांत वे महसूस करते हैं कि उनकी शान शौकत और हैसियत बढ़ गई है।

इन्सानी सभ्यता का भविष्य सौदागिरी सभ्यता में तब्दील होने पर नफा- नुक्सान आर्थिक मुनाफे की तराजू पर तौले जाते हैं। इन्सानी रिश्ता, मित्रता, प्रेम, संवेदना आदि मूल्य कहीं गुम हो जाते हैं। पूंजीवादी सत्ताकेन्द्रों को इससे यह फायदा होता है कि विरोधी स्वर एक जुट होने के बजाय बिखर जाते हैं। समाज पर इसका अनेकायामी असर पडता है इसे विभिन्न किस्म के विभाजनों से जोडकर देखना है। विकास के नाम पर मुख्यधारा से बारबार हाशिए की ओर खदेड दिये जानेवाले या खत्म किये जानेवाले दलित, आदिवासी, पारिस्थितिकी और नारी संबधी सवालों को भी इसी परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना है। आनुषंगिक ढंग से ही सही, इन्हीं समस्याओं पर भी उपन्यासकार ने विचार किया है।

नारी की स्थिति

पुरुष वर्चस्व व्यवस्था में नारी की यातनाओं की लंबी परंपरा रही है। वैदिक युग में ऋषि गौतम की पत्नी अहल्या के साथ इन्द्र का अत्याचार, पुरानी सभ्यताओं में देवजातियों द्वारा नारी पर किये गये अनगिनत अत्याचारों का

उज्वल नमूना है। आज फर्क मात्र इतना है कि देवजाति के स्थान पर सत्ता और साधन संपन्न पुरुष आ गये हैं। मतलब की बात यही है कि वक्त चाहे दंग, जंग या अमन का हो नारी हमेशा शिकार रहती है। जंग के संदर्भ में यह अत्याचार किस कदर तक मानवता के तमाम सरहदों को पार करते हैं इसका एक उदाहरण बंग्लादेश की जंग के परिप्रेक्ष्य में चित्रित है।

"और वह अनावृत औरत उसी तरह, बिना किसी झिझक के उठकर खडी हो गई थी। पुतली की तरह खूबसूरत वह औरत धीरे-धीरे सैनिकों की भीड की ओर बढ़ी और तब तूफान आ गया। वे सारे के सारे उस पर टूट पड़े। कितनों के बाहों में होता हुआ औरत का सुनहला गुलाबी शरीर उनके बीच कभी कभी इस तरह चमक जाता, जैसे बाढ़ के गंदले पानी में किसी बच्चे का खिलौना डूबता उतरता सा बह रहा हो।"

अपने देश में, अपने घर में पति के सामने बन्धूक की नोक के दहशत के तले पहले दुश्मन फौजियों और जिस देशी फौजियों के सामूहिक बलात्कार के शिकार होने के बावजूद इन्हीं दरिन्दों के बारे में समाचार संवादाताओं से उनके बहशियाना बदसलूकी दर्ज करने के बजाय तारीफ करने की विवशता तमाम उत्पीड़ित नारियों की सर्वकालीन विवशता है। समाचार माध्यम इस प्रकार की बहशियाना अन्दाज़ को भी सच के रंग के साथ दुनिया के सामने प्रस्तुत करते हैं, जो माध्यम व सत्ता के नापाक संबन्धों का निदर्शन है। ऐसे एक बहशी वातावरण में मजहबी कट्टरवाद भी साथ हैं तो नारीजीवन बेशुमार दुशवारों की गिरफ्त में आ जाएगा। कमलेश्वर ने 'लौटे हुए मुसाफिर' से 'कितने पाकिस्तान'

तक की कथाओं में देश विभाजनों के सैद्धांतिक तत्व विश्लेषण कार्य में सफलता आर्जित की है।

इस उपन्यास की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन ज्वलंत समस्याओं का न कोई सरल समीकरण प्रस्तुत किया गया है और न मुक्ति का कोई राजमार्ग दर्शाया है। फिर भी इस में ऐसे कई संकेत हैं जो अनेकायामी अर्थ संभावनाओं से युक्त हैं। प्रोमिथ्यूस, गिलगमेश, अन्धे भिखारी कबीर, अश्रुवैध इस उपन्यास के ऐसे चार सशक्त पात्र हैं, जिनकी आवाज में मानवता के मुक्तिकामी संघर्ष की आकांक्षा गूँज उठती है। इन पात्रों की यह खासियत भी है कि ये थल-काल की सीमाओं को लांघकर वर्तमान में उतर आते हैं और समकालीन संघर्षों में शरीक होकर अपने दायित्व को भरपूर निभाते हैं। आंसु, खून और पसीने को संजोकर उसके परीक्षण में लगे अश्रुवैध बाद में मनुष्य के सपनों को संजोकर उन्हें स्वप्न नगरी में सुरक्षित रखता है। इसी स्वप्न नगरी में सुरक्षित जीवनौषधि की खोज में आए गिलगमेश के माध्यम से कमलेश्वर एक और बात कहना चाहते हैं कि तमाम नाराज़गियों और मोहभंगों के बावजूद हमें कम से कम उस सुनहले सपने को सुरक्षित रखकर आगामी पीढ़ी को सौंपना है। कबीर को अन्धे और भिखमंगे की जामा पहनाने के ज़रिए उपन्यासकार हम पर व्यंग्य ही करते हैं। कबीर की इस भूमिका उनके द्वारा उठाये गए उस सवाल से समझ सकते हैं, "आज़ादी के इतने सालों बाद भूख और भीख के सिवा हमें क्या मिला है?" चगाई और पोखरान में बोधिवृक्ष के पौधे रोपने केलिए कूच करते कबीर के चित्र के साथ उपन्यास की विवृतात्मक समाप्ति प्रतीकात्मक और अर्थवान है।

रोज़ाना शक्ति बटोरते हुए मानवविरोधी और उनकी अनगिनत दुरभिसंधियों से भरपूर वर्तमान उत्तरौपनिवेशिक माहौल में अदीबों यानी कलमकारों की अहम भूमिका को अदीबे अलिया के ज़रिए कमलेश्वर स्पष्ट करते हैं, "मैं अपने दोस्तों और समकालीनों को आवाज़ देना चाहता हूँ कि मेरा साथ दो... राकेश, रेणु, दुष्यंत, राही, परसाई, रघुवीर, श्रीकान्त के अलावा मैं अपने तमाम उन जीवन्त दोस्तों को आवाज़ लगाना चाहता हूँ जिन्होंने अपनी रचनात्मक शक्ति को अपने लिए नहीं दुनिया केलिए समर्पित कर दिया है और वे लगातार अपनी व्यक्तिगत रचनाशक्ति और अपनी कलम की सच्चाई से इस दुनिया को बहत्तर बनाना चाहता है। मेरा साथ दो... मैं बहुत अकेला पड गया हूँ।"

इस रचना की अन्तर्वस्तु की तमाम बहुस्वरताओं के बावजूद दरअसल अपनी समग्रता में यह विभाजनों पर केन्द्रित है। कथा विन्यास में भिन्न प्रकार के विभाजनों की बातें ही बिखरी पडी हैं फिर भी वर्तमान त्रासदी अपनी पूरी संश्लिष्टता और आतंक के साथ उभर आयी है। गहन मानवीय संसक्ति ही इसकी आधार शिला है। इसलिए इस उपन्यास पर ऐतिहासिक, राजनैतिक जैसे बिल्ला लगाना नाजायज़ होगा क्योंकि, भूमिका के बतौर यह उपन्यास अनेक सालों से मानवमुक्ति से संबंधित अनगिनत जिरहों की गिरफ्त में पड़ी रचनात्मक आत्मा की बेचैनी की अभिव्यक्ति है। कितने पाकिस्तान कोई भविष्यवादी उपन्यास नहीं है जो आज पश्चिमी देशों में थोक के भाव छप रहे हैं। लेकिन पिछले अनुभवों के आधार पर इसमें जो स्थापनाएँ की गई है, जो निष्कर्ष निकाल गए है, वे भारत सहित तीसरी दुनिया में घट रही घटनाओं के संदर्भ में बिल्कुल ठीक बैठते लगते हैं। एक ओर आर्थिक सुधारों और उदारीकरण के नाम पर बाज़ारवादी अंतर्राष्ट्रीय

महाशक्तियों को देश में खुलकर खेलने की आज़ादी दी जा रही है, दूसरी ओर धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर लोगों को एक बार फिर विभाजित करने की कारगुजारियाँ की जा रही हैं। इन दोनों शक्तियों के शिकंजे में फँसते जा रहे देश के भविष्य में क्या हालत होगी? इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इस दृष्टि में कितने पाकिस्तान आखें ही नहीं खोलता, एक चेतावनी भी देता है।

लौटे हुए मुसाफिर

स्वाधीनता के बाद देश के राजनैतिक परिदृश्य में भारी परिवर्तन आया। एक लम्बी गुलामी के बाद आज़ादी का आगमन देश की जनता के लिए एक अभूतपूर्व परिवर्तन का काल था लेकिन सामाजिक जीवन में सांप्रदायिकता का ऐसा भयावह बीज बो दिया गया कि बेगुनाह लोगों की हत्या और खून के बीच इस महान अवसर की खुशियाँ मातम में डूब गयीं। देश का सारा सामाजिक परिदृश्य अंधकार और परस्पर अविश्वास से दूषित हो गया। मानवीय अस्मिता पर इस भयावह आघात की कथा ही 'लौटे हुए मुसाफिर' में कही गयी है। खूबी यह है कि कमलेश्वर ने कथानक के स्थान केलिए अपना कस्बा ही चुना, जिसकी एक-एक ईंट से वे परिचित है, जिसकी गलियों में उनका बचपन बीता है और मुक्त आकाश में उनके सपनों के पखेरू मनचाही उड़ाने भरते रहे हैं। उपन्यास में हिन्दु और मुसलमान होने की अलगाववादी भावना से अलग एक मनुष्य की तरह सदियों के साथ - साथ हँसने, खेलने वाले, कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाले और सुख-दुख में सदा साथ साथ रहने वाले लोग सहसा दो हिस्सों में बँट गये। एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये। सहज आत्मीयता और दोस्ती की जगह परस्पर अविश्वास और घृणा ने ले ली।

कमलेश्वर ने अपनी दूरदर्शिता को इस उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत किया है। आज भी देश औपनिवेशिक शक्तियों की पकड में ज़कडी हूई है और इन शक्तियों से मुक्त होना आसान कार्य नहीं है। इस सामाजिक याथार्थ को प्रस्तुत करते हुए देश के वर्तमान आतंक की

ओर इशारा करना उपन्यासकार का उद्देश्य है जो कि सालों बाद भी देश में मौजूद है। " चिकवों की बस्ती को केन्द्र बनाकर उपन्यासकार ने अपनी अन्तर्दृष्टि को खुलापन प्रदान किया है। इस गाँव में मनुष्य बसते हैं, न कि हिन्दू-मुसलमान या स्पृश्य-अस्पृश्य। यहाँ के लोग एक दूसरे को मनुष्य की दृष्टि से देखते हैं, भाई बहन के रूप में सम्मान के साथ स्वीकार करते हैं। गोया कि यद्यपि वह बस्ती चिकवों की है तथापि वे एक दूसरे के साथ मानवोचित व्यवहार रखते हैं। ऐसी एक बस्ती में कैसे जाति भेद का विष व्यापता है ? और उसको फैलाने में धर्म और राजनीति की भूमिका कहाँ तक हैं ? जैसे प्रश्नों के जवाबदेह होने की वजह से यह उपन्यास अब भी प्रासंगिक रह जाता है।" [1]

लौटे हुए मुसाफिर का कथानक कस्बे के पुराने जीवन के स्मृति चित्रों से प्रारम्भ होता है। इस बस्ती में उस समय हिन्दू - मुसलमान किस प्रकार मिल-जुलकर रहते थे, किस तरह एक दूसरे के दुख- दर्द में हिस्सा बंटाते थे और किस तरह एक-दूसरे के लिए जान देते थे। जब हिन्दुओं की बस्ती के ताजिये गुज़रते थे, उन पर लोग गुलाब जल छिडकते थे, औरतें अपने बच्चों को गोद में उठाये ताजियों के नीचे से गुज़रती थीं और दौड़ -दौड़ कर फेंके हुए मखानों को उठाकर धोती की खूँट से बांध लेती थी। जब रामलीला का विमान उठता तो मुसलमान औरत अपने घरों से बाहर आकर मूर्तियों के श्रृंगार का दर्शन करतीं। इतना ही नहीं, इस बस्ती के लोगों ने स्वाधीनता संग्राम में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था और कई अंग्रेज अफसर जान से मारे गये थे। राधेश्याम और यूनुस दोनों पकडे गये थे। सन् 42 में चिकवों के लड़कों ने बडा ऊधम मचाया और सरकार को परेशान किया था। कथानक में एक मोड़ का मुख्य बिन्दु 45 के बाद भीतर ही भीतर साम्प्रदायिकता की आग सुलगने लगी थी, और धीरे धीरे चिकवों की इस बस्ती में भूचाल-सा आ गया था। फिर तो सब कुछ बिगड़ गया दिल्ली इमारतें ढ़ह गयीं। आज़ादी के साथ पाकिस्तान बना और बहुत से मुसलमान इस बस्ती को छोड़कर चले गये थे।

---

1. संपा.डॉ. एन. मोहनन् उत्तरशती का हिन्दी उपन्यास - पृ. 151-152

अलगाव वादी विचार का फैलाव

हिन्दु और मुसलमान होने की अलगाव वादी भावना से अलग, कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाले और सुख-दुख में सदा साथ रहने वाले लोग सहसा दो हिस्सों में बँट जाते है। एक दुसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। सहज आत्मीयता और दोस्ती की जगह लोग परस्पर अविश्वास और घृणा करने लगते हैं। एक दम लोग अमानवीय वृत्तियों में लग जाते हैं । पर कुछ सालों के उपरान्त जब नई पीढी के नौजवान लोग वापस आते हैं तो सबके सब जातिभेद को भूलकर उन सब का बड़े ही प्रेम से स्वागत करते हैं। स्पष्ट है कि विभाजन के समय के अमानवीय हरकतों में आम आदमी की कोई दिलचस्पी नहीं थी बल्कि कुछ ऐसे लोगों ने इसकेलिए जनता को भटकाया जिसका अपना अलग स्वार्थ था। इफ्तिकर के शब्दों में " जिन्ना साहब किधर के मुसलमान है। सुना कि नमाज भी नहीं पढ़ते।"[1] इससे स्पष्ट है कि मुसलमानों के बीच भी पाकिस्तान निर्माण न चाहने वाले लोग मौजूद थे जिन्हें जिन्ना साहब पर तनिक भी विश्वास नहीं था। मुसलमानों के मन में पाकिस्तान बनाने केलिए प्रेरणा देने लायक विषैली भाषण यासीन के शब्दों से व्यक्त होता है, " तो बात जंग की नहीं है। इस वक्त हमें उन भीतरी बातों को समझना है जो जिन्ना साहब कर रहे हैं। आप हिंन्दुओं की चालों को नहीं समझते। हिन्दु कौम कभी हमारे साथ नहीं हो सकती। हमने हिन्दुस्तान पर सदियों हुकूमत की है। आज़ादी के बाद उसी का बदला वे मुसलमान कौम से लेंगे, यह बिल्कुल तय है।"[2] मुसलमानों में ही कुछ लोग इस प्रकार के तर्क लगाते हैं कि "लेकिन सुना है कि कांग्रेस हिन्दु-मुसलमान दोनों को साथ लेकर चलना चाहती है। वह यह फर्क नहीं करती।"[3] लेकिन ऐसे विचार रखने वालों के मूँह बंद करने लायक उत्तर देने में ये धर्मान्ध मुस्लिम वादियों के पास बहुत जवाब थे।"भई, बात यह है कि यह गलतफहमी बहुतों को है. कांग्रेस अगर हमारी जमात

---

1. कमलेश्वर लौटे हुए मुसाफिर पृ. 56
2. वही. पृ. 56
3. लौटे हुए मुसाफिर, कमलेश्वर पृ. 56

भी होती, तो हमें लीग बनाने की जरूरत क्यों पड़ती। अगर हिन्दुओं के मंदिरों में इबादत की जा सकती तो मस्जिदों की तामीर क्यों होती? हिन्दू हिन्दू है और मुसलमान मुसलमान।"[1] "हिन्दु नेता यह चाहते हैं कि वे मुसलमानों को साथ लेकर तो अभी अंग्रेजों से हुकूमत छीन लें, बस.....। बाद में वे मुसलमानों को अंगूठा दिखा देंगे, यही उनकी चाल है।"[2] मुसलमानों के दिल में हिन्दुओं के बारे में एक प्रकार की डर जगाने में एकाध मुसलमानों की वाणी में क्षमता थी । यासीन कहता है कि "भाई जान, अपना मुल्क अपना ही होता है। अभी आप सोच नहीं सकते कि अगर हिन्दुओं का राज हुआ तो इसी हिन्दुस्तान में हमें कितनी मुसीबतें और सितम सहने पडेंगे। हिन्दुओं की चाल ही यही है कि यहाँ के सारे मुसलमानों को फुसलाकर, दबाकर और ज़रूरत पड़े तो जबरदस्ती हिन्दू धरम कबूल करवाया जाए। आप इनकी बातों को नहीं समझते।"[3] इस प्रकार यहाँ धर्म का गलत व्याख्यान देकर सांप्रदायिकता की ओर खींचने की कोशिश हो रहा हैं।

वास्तव में संसार का कोई भी धर्म अन्य धर्मावलंबियों के प्रति घृणा दिखाने का सबक नहीं सिखाता। हर धर्म का सन्देश प्रेम होता है तथा मनुष्य के व्यवहारों पर नियंत्रण लगाता है और हृदय विशाल बनाता है। वास्तव में धर्म का लक्ष्य मानव राशी को मानवीयता के शिखर की ओर ले जाने का कार्य करना है। लेकिन यह तब संभव होगा जब कि धर्म का बागडोर सद् व्यक्तियों द्वारा संभाला जाता है। लेकिन चिकवों की बस्ती में जो घटना हो रही है वह वर्तमान भारत के गाँव गाँव की घटना है। यहाँ धर्म जुम्मन साई के हाथों पड़ जाने पर उसका गलत उपयोग किया जाता है। जब उसके साथ यासीन जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता मकसूद के हाथों की कठपुतली बन जाता है तो पूरे चिकवों की बस्ती में साम्प्रदायिकता का विष फैलने लगता है। धीरे धीरे चिकवों की बस्ती में घृणा, विष, विद्रोह की धुआँ उठने लगती है। वे अपने

---

1. लौटे हुए मुसाफिर, कमलेश्वर पृ. 56-57
2 वही पृ. 57
3. कमलेश्वर लौटे हुए मुसाफिर, पृ. 58-59

भाई-बहन, मामा-मामी, दादा-दादी की निर्मम हत्या करने में तनिक भी हिचकते नहीं थे। चिकवों के एक एक मुसलमान भारत को भूलकर पाकिस्तान के लिए लालायित हो उठने लगे। जिस भारतीय संस्कृति, विरासत एवं परम्परा पर वे गर्व करते थे, वे सब उनके लिए क्षण भर में तुच्छ बन गए हैं। वे पाकिस्तान जाने केलिए तैयार हो जाते हैं। इस मानसिक परिवर्तन के पीछे दर असल और कोई शक्ति नहीं, सिर्फ साम्प्रदायिकता और राजनीति के गलत गठबन्धन से उद्‌भुत असुर शक्ति ही सक्रिय रही हैं। परिणामस्वरूप पूरी बस्ती में अन्धकार छा जाता है। लोग एक दुसरे को सन्देह की दृष्टी से देखने लगे। सत्तार और रतन की मित्रता टूट जाती है। बहुत दिनों के बाद सत्तार रतन से मिलते है लेकिन खाकी नेकर, पेटी और काली टोपी के कारण पहचान नहीं पाये तथा सलाम बोलने पर नज़रें घुमा ली जैसे वह उसे पहचानता ही न हो। मुसलमान होने के कारण इक्केवाले इफ्तिहार को सवारी नहीं मिलती। इस प्रकार साप्रदायिकता को भटकाकर मनुष्य-संहार से लाभ उठाने के प्रयत्न में राजनीति के खेल सफल हो उठते हैं। वास्तव में राजनीति का लक्ष्य जनहित ही है लेकिन जब वह गलत व्यक्तियों के चंगुल में फँस जाती है तो उसका भी रंग बदलने लगता है। इस प्रकार धर्म साम्प्रदायिकता में राजनीति कुराजनीति में बदल जाते हैं तो समाज में कुत्सित घटनाओं का ताण्डव होने में कोई आश्चर्य नहीं है। चिकवों की बस्ती में घटित सारी घटनाएँ इस यथार्थ को शब्द बद्ध कर रही हैं।

नसीबन नामक पात्र के ज़रिए कमलेश्वर ने इस उपन्यास में मानवीयता का मूर्त रूप प्रस्तुत किया है। वह मुसलमान होते हुए भी एक हिन्दु के बच्चे को पालने में कोई दोष महसूस नही करती। वह साई से कहती है कि "साई असल बात यह है कि ये बच्चे तुम्हारी आँखों में कटक रहे हैं। मेरे लिए धरम-करम का सवाल नहीं है साई, सीधी-सी बात है, मुझसे इन बच्चों को बिलखता नहीं देखा गया, सो ले आई। कल को इनका बाप आ जाएगा, तो चले जाएँगे।"[1] जाति -राजनीति की संकुचित सीमा रेखाओं का अतिक्रमण करते हुए मनुष्य को

---

1. कमलेश्वर लौटे हुए मुसाफिर, पृ. 110

मनुष्य के रूप में देखने समझने और स्वीकार करने की मानसिकता रखने वाली नसीबन मानवीयता के संवाहक बनकर इस उपन्यास में आती है। ऐसे इने गिने यानी मुट्ठी भर के लोगों की वजह से ही मानवीयता, प्रेम, सेवा जैसे मूल्यों की रक्षा हो जाती है। इस दृष्टि से ही उपन्यासकार की वैचारिक संवेदना का विकास उस समय चरम सीमा पर पहूँचता है, जब बस्ती छोडकर गये हुए लोगों के बच्चे वहाँ के ऊसर बन रहे पालावेधी कुओं में मज़दूरी करने केलिए वापस आते हैं। वे बड़े हो गये हैं। वह खुशी से रो पडती है तथा उनके खाने-सोने का प्रबंध करती है। वास्तव में कमलेश्वर द्वारा सृजित ऐसे पात्र ही भविष्य के लिए दीप स्तम्भ बन सकते है। नसीबन जैसे मानवतावादी पात्र ही नई पीढ़ी के नौजवानों को पहचानकर एक नए कल का सृजन कर सकती है जो कि सांप्रदायिकता के परे हो।

स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण में मुस्लिम लीग ने सांप्रदायिक तेवर को अपनाकर पाकिस्तान की मांग की और इसके फलस्वरूप प्रतिरोध में हिन्दू सांप्रदायिकता की शुरूआत होती है संघी के रूप में। बाद में वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का रूप धारण कर लेता है। तब से लेकर आज तक सांप्रदायिकता की आग को भड़काने में मुस्लिमलीग और संघी समान रूप से जिम्मेदार रहे हैं। उपन्यासकार ने यहाँ हिन्दू साम्प्रदायिकता का राजनीतिकृत दल संघी के आविर्भाव की ओर विशेष ध्यान देने की कोशिश की है। स्वाधीनता परवर्ती भारतीय समाज में मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच आतंक फैलाने का सतर्क प्रयास इस दल ने किया है। जिसकी वजह से पूरे देश में भिन्न-भिन्न प्रांन्तों में साम्प्रदायिकता की आग भड़क उठी है। अब भी स्वतंत्रता प्राप्ति के छप्पन वर्ष बाद भी वह आग शान्त नहीं हूई। उपन्यासकार प्रस्तुत उपन्यास के द्वारा पाठकों को साम्प्रदायिकता का कभी न रुकने वाले विषबीज की ओर चेतावनी देते हुए जाति-राजनीति की संकुचित सीमा रेखाओं से बाहर आकर मानवीयता, प्रेम, भाईचारा आदि मूल्यों पर अधिष्ठित जीवन जीने केलिए प्रेरित कर रहे हैं।

.....🕮.....

तीसरा अध्याय

आपातकाल और राजनीतिक चेतना

तीसरा अध्याय

आपातकाल और राजनीतिक चेतना

श्रीमति इन्दिरा गाँधी ने अपने शासन के शुरु के दिनों में जनता के मन में काफी प्रतीक्षा छोडी थी। बैंकों का राष्ट्रीकरण करके तथा बाँग्लादेश की स्वतंत्रता की लडाई में सहयोग देकर उन्होंने अपनी राजनैतिक परिपक्वता का परिचय दिया था। पर बाद में उनकी प्रतिष्ठा का भंग होने लगा। जनता के मन में उनको लेकर विश्वास कम होने लगा। काँग्रेस में ही विरोधी दल शक्ति प्राप्त करने लगी। पश्चिम बंगाल में विद्रोही कांग्रेस विधायकों का एक स्वतंत्र गुट स्थापित हो गया था। सारे पश्चिम बंगाल का वातावरण ही काँग्रेस केलिए प्रतिकूल बन गया। कृष्णानगर, शांतिपुर, रणघाट, कलकत्ता, नडिया, मुर्शिदाबाद आदि स्थानों पर विद्यार्थियों के आन्दोलन हुए। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भी छात्रों का आंदोलन हुआ। अमृतसर में पंजाबी सूबे का आंदोलन शुरु हो गया। महाराष्ट्र में मैसूर सीमावाद पर असन्तोष भटक उठा। अनेक स्थानों पर गोलियाँ चलाई गईं, रेल दुर्घटनाएँ हुईं। सारे देश में अराजकता फैल गई। साथ ही 6 जून 1966 को रुपये का अवमूल्यन भी घोषित हुआ।

इन सारी बातों ने इन्दिरा सरकार की प्रतिष्ठा पर गहरा धक्का पहुँचाया। 1967 का आम चुनाव नज़दीक आ रहा था। विरोधी पक्ष अपनी पूरी ताकत लगाकर इंदिरा सरकार को हिला देने पर तुले हुए थे। इन सबसे बढकर सन्

1966 शायद सबसे अधिक दंगाफसाद का साल था। राज्य राजनीति में बहुत बडा उथल पुथल हुआ। बिहार, पंजाब, राजस्थान की सरकारें गिर गयीं। श्री सुब्रह्मण्यं जैसे मन्त्री काफी बदनाम हो गये थे। अनेक राज्यों में सरकार-विरोधी वातावरण उत्पन्न हो चुका था। इस सन्दर्भ में 1967 का आम चुनाव आ जाता है। यह चुनाव ही दरअसल कांग्रेस के तब तक के एकाधिकार को समाप्त कर देता है। सोलह राज्यों में से सिर्फ सात राज्यों में ही उसे बहुमत मिला था। चौथे आम चुनाव ने भारत की राजनीति को एक नई राह पर खडा कर दिया। राजनीतिक दलों केलिए नए चिंतन की ज़मीन पैदा कर दी। बीस साल की कांग्रेस की अविच्छिन्न सत्ता को इस चुनाव ने समाप्त कर दिया। विरोधी दलों को राज शासन करने का पहली बार मौका मिला। उन्होंने महसूस किया कि काँग्रेस के अलावा भी देश का शासन संभव है। एक विकल्प के बारे में सोचने का अवसर मिला। लेकिन आगे चलकर वे उसका लाभ उठा नहीं सके। इंदिराजी ने इतना तो ज़रूर समझ लिया कि जनता असंतृप्त है। वे संसद, न्यायालय, शासन व्यवस्था, सरकार आदि पर विश्वास नहीं रखते। क्योंकि शासन के ये सारे तंत्र जनता के खिलाफ हैं ऐसा विश्वास जनता में रूढ हो गया। अगर शासकीय संस्थायें जनता की भावनाओं को नहीं पहचान सकीं तो विश्वास का पथ ही रुक जाता है। इस प्रकार जब जनता का विश्वास नष्ट हो गया तथा अपनी पार्टी में ही विरोधी गुट मज़बूत हो गया तो इन सब को लेकर कुछ करने का विचार इंदिरा जी के मन में दृढ हो गया।

UNIVERSITY LIBRARY
Cochin - 682 022
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
G9108

कांग्रेस का विघटन

कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं के साथ इंदिराजी का तालमेल न बैठने के कारण कांग्रेस दो टुकडों में विभजित हो गई। कांग्रेस के संसदीय दल का भी विघटन हुआ। श्री निजलिंगप्पा ने कांग्रेस से अलग होकर 22 नवंबर 1969 को 'संगठना कांग्रेस' का गठन किया। दूसरी ओर इंदिराजी के नेतृत्व में इन्दिरा काँग्रेस बनी। परिणामतः भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस हमेशा केलिए समाप्त हो गई। इस विघटन का परिणाम देश भर फैल गया। सत्तर लोकसभा सदस्यों ने इन्दिरा सरकार का समर्थन वापस ले लिया। इंदिरा सरकार कमज़ोर बन गई। देश में राजनैतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो गई। इंदिरा सरकार कम्यूनिस्ट तथा द्र.मु.क. का समर्थन चाहने लगी तो स्वतंत्र जनसंघ, संघठना कांग्रेस और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का एक अलग राजनैतिक गुट तैयार होने लगा। परिणामतः राज्यों में काफी अस्थिरता पैदा होने लगी। फिर भी इंदिराजी का व्यक्तित्व एक प्रखर नेता के रूप में अक्षुण्ण रहा। विरोधी पक्षों ने नारा लगाया- 'इंदिरा हटाओ।' पर इंदिरा कांग्रेस का नारा था "गरीबी हटाओ।" सन् 1971 के चुनाव का परिणाम जब बाहर आया तो सब के सब आश्चर्य चकित हो गये। इंदिरा कांग्रेस को 442 सीटों में 350 मिले। संसद में उसे स्पष्ट बहुमत मिला।

बंगला देश का निर्माण

मार्च 1971 से इंदिरा गांधी के कार्यकाल का दूसरा दौर शुरू होता है। जवहरलाल जी संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलनों में बारबार कहा करते थे कि अविकसित तथा छोटे राष्ट्रों के स्वयंनिर्णय के हक को बनाए रखना ही चाहिए।

पर लाख कोशिश के बावजूद उनपर बडे राष्ट्रों की ताकत कम न कर सके। क्योंकि फौजी ताकत से समृद्ध राष्ट्रों का ही संयुक्त राष्ट्र संघ पर दबाव था। इस परम्परा को जबरदस्त धक्का देने वाला कदम ही बंग्लादेश कांड में इन्दिरा जी ने लिया। जिस साहस के साथ उन्होंने देशांतर्गत असंतोष को तोड दिया था, उससे कई गुना अधिक साहस और दूरदर्शिता का परिचय देते हुए बंगला देश के संदर्भ में उन्होंने निर्णय लिया। एक राष्ट्र ने इस प्रकार किसी दूसरे राष्ट्र के स्वातंत्र्य संग्राम में खुले तौर पर कदम उठाया। यह घटना दुनिया के इतिहास में एक अनोखी थी। भारत-पाक का यह तीसरा युद्ध था। 3 दिसंबर से 16 दिसंबर 1971 तक हुए 14 दिवसीय युद्ध ने भारतीय सेना और इंदिरागांधी के कर्तव्य को ऐतिहासिक प्रमाणित किया। इस युद्ध में पाकिस्तान की हार हुई। ऐसी हार हुई कि वह दुबारा भारत की ओर आंख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं रखेगा। इस निर्णायक युद्ध ने राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी। बंगला देश जैसे एक नये राष्ट्र का उदय हुआ जो भारत का सच्चा मित्र था। इस विजय ने इन्दिराजी को एक समर्थ राष्ट्र नेता के रूप में दुनिया के सामने खडा कर दिया।

इन्दिरा गांधी का पतन और आपात्काल की घोषणा

स्वतंत्रता के बाद स्थिति पहले ही कुछ बिगडी हुई थी। देश भर में मोहभंग छाया हुआ था। प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था पर भारतीय जनता को पूरा विश्वास था। पर कुछ स्वार्थी एवं पदलोलुप नेताओं ने जनता के इस विश्वास पर गहरा आघात पहुँचाया। इसकी चरम परिणती है 1975 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल की घोषणा। इसकी भीषणता एवं क्रूरता को कई लेखकों ने

अपनी रचना का विषय बनाया है। रचनाकारों ने इस काल खण्ड को (1975-1977) भारतीय प्रजातंत्र का अंधकार युग कहा है। यह फासिस्ट दृष्टिकोण का परिणाम है कि जनता का सारा स्वातंत्र्य छीन लिया जाना । पर भारत की जनता को उस विकराल स्थिति का सामना करना पडा है। इसका चित्रण हिन्दी साहित्य के अनेक प्रतिष्ठित उपन्यासकारों की रचनाओं में हुआ है। राही मासूम रजा, मुद्राराक्षस, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, मन्नू भण्डारी, निर्मल वर्मा, धीरेन्द्र अस्थाना आदि ऐसे उपन्यासकार है जिन्होंने तत्कालीन विकराल स्थिति का जीता जागता चित्रण अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का कार्य किया है।

आपातकाल की पृष्ठभूमि

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने प्रधानमंत्री इन्दिरागाँधी के खिलाफ फैसला लिया कि उनका चुनाव अवैध है। नैतिकता एवं राजनैतिक मूल्यों को महत्व देनेवाला कोई भी नेता न्यायालय के इस फैसले को मानकर अवश्य इस्तीफा देकर अदालत का सम्मान करेंगे। लाल बहादूर शास्त्रीजी जब रेलवे मंत्री थे तब एक रेल दुर्घटना हुई थी। उन्होंने इस दुर्घटना के धार्मिक दायित्व को स्वयं लेकर उस पद से इस्तिफा दी और सच्चे राजनीतिक नेता की ईमानदारी का परिचय दिया। लेकिन इंदिरागांधी ने तो अलादकारों और चाटूकारों के वश में पडकर अपने अधिकार को सुरक्षित रखना चाहा। उन लोगों ने इन्दिरा जी को समझा दिया कि उच्च न्यायालय का फैसला विरोधियों की एक चाल है। उसका सामना करना है। अतः इस फैसले को मानने की ज़रूरत नहीं है। इस प्रकार के उपदेश सुनकर तथा अधिकार से दूर रहने की बात से असहमत होकर उन्होंने आपातकाल की घोषणा

की और सारे प्रजातंत्रीय मूल्यों को तहस नहस कर डाला। आपातकाल की घोषणा करने की कोई विपत्ति देश में नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि इसके पीछे देश की सेवा या देश प्रेम की भावना नहीं थी बल्कि हर हालत में अपने क़ो सत्ता पर बनाए रखने की अदम्य इच्छा थी। इस पदलोलुपता के कारण इंदिराजी ने आपातकाल की घोषणा की। इसने यहाँ के संविधान, राजनीतिक व्यवस्था, न्याय व्यवस्था सभी को धक्का लगाया। हिन्दी साहित्य जगत के रचनाकारों ने तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों का अंकन करते हए अपनी रचना धर्मिता का पालन किया है। राही माजूम रजा, मुद्राराक्षस, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, गोविन्द मिश्र आदि ऐसे उपन्यास कार हैं जिन्होंने अपनी रचना द्वारा अपातकालीन आतंक, संत्रास अत्याचार एवं भयावह स्थिति का जीता जागता चित्र प्रस्तुत किया है। राही मासूम रजा का 'कटरा बी आर्जु', मुद्राराक्षस के 'शांतिभंग', यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'प्रजाराम' तथा गोविन्द मिश्र का 'पांच आंगनोंवाला घर' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें रनचाकारों ने देश में घटित उस राजनीतिक संकट के दुरनुभवों को विभिन्न कथात्मक घटनाओं के द्वारा पाठकों के सम्मुख पेश किया है। प्रत्येक उपन्यासों की समीक्षा से यह साफ साफ नज़र आएगा कि उस दुरभिसंधि को रचनाकारों ने किस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

नक्सलबाड़ी आन्दोलन और आपातकाल

1967 के मई महीने में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी के क्रान्तिकारियों ने कामरेड चारु मजुमदार के नेतृत्व में पश्चिम बंगाल के तराई इलाके में एक आन्दोलन छेडा। नक्सलबाड़ी, खड़िबाड़ी, और फॉसीदेवा के लाखों किसान

उसमें शामिल हुए। 23 मई को नक्सलबाड़ी के किसानों और पुलिस के साथ एक मुठभेड़ हुई। उसमें तीन पुलिसवाले घायल हुए जिनमें से एक पुलिस इन्सपेक्टर सोनमवांगदी की मृत्यू हुई। उसे बाद में मरणोपरांत स्वर्णपतक दिया गया। दो दिन बाद 25 मई को (तत्कालीन संयुक्त मोर्चा) सरकार की पुलिस नक्सलबाड़ी के विद्रोहियों को सीख देने गई और 7 महिला और एक शिशु सहित 9 लोगों की हत्या करके लौट आई। बंगाल के संयुक्त मोर्चे की सरकार में कम्यूनिस्ट पार्टी तथा भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी दोनों शामिल थीं। उन्होंने क्रान्तिकारियों के बलपूर्वक क्षेत्रीय आधार पर सत्ता पर कब्जा करने के इस माओवादी प्रयोग को नकारा तथा आन्दोलन कारियों से आन्दोलन खत्म करने को कहा। पर क्रान्तिकारियों ने माना नहीं। सरकार ने बड़ी तादाद में पुलिस भेजकर आन्दोलन को कुचला दिया। मगर आन्दोलन नहीं रुका। हथियार के बल पर राजसत्ता पर कब्जा करने का यह आन्दोलन जिस नक्सलबाड़ी में शुरु हुआ था, उस गाँव के नाम पर भारत भर में जारी रहा। संयुक्त मोर्चा सरकार खत्म हो गई लेकिन नक्सलबाड़ी आन्दोलन खत्म नहीं हुआ। कम्यूनिस्ट आन्दोलन इतने दिनों तक के संघर्ष के बावजूद जो जनस्वीकृति हासिल नहीं कर सका वह नक्सलबाड़ी आन्दोलन कूछ ही दिनों में हासिल कर दिखाया। बंगाल की मार्क्सिस्ट कम्यूनिस्ट् पार्टी से चारु मजुमदार, सरोजदत्त तथा सुशीतलराय चौधरी सहित चार सौ सदस्य पार्टी से निकाले गये। उन लोगों ने नक्सलबाड़ी संग्राम सहायक कमेटी बनाई। मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी से क्रान्तिकारी लोग बाहर आकर नक्सलबाड़ी के पक्ष में खडे हो गए। 1968 में उन्होंने मिलकर क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय कोआर्डिनेशन कमेटी बनाई जिसके नेतृत्व में जगह-जगह किसान आन्दोलन शुरु हुए। नवम्बर

1968 में आन्ध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में आन्दोलन हुआ। बिहार के मुसहरी तथा उत्तरप्रदेश के लखीमपुरखीरी भी इस आन्दोलन की चपेट में आ गए। पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर जिले के डेबरा तथा गोपीवल्लभपुर में आन्दोलन शुरु हो गया। हर जगह सी.आर.पी. की टुकडियाँ भेजी गईं। कुम्बिग ऑपरेशन, मुठभेड जैसी शब्दावलियों तथा नक्सलवाड़ियों की लाशों से अखबारें भरने लगीं। क्रांतिकारी लोग अपनी पार्टी बनाने की दिशा में सक्रिय हो गये। 22 अप्रैल 1969 को. कॉ. लेनिन के जन्मदिन पर क्रान्तिकारियों ने अपनी पार्टी भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) बनाई। 1970की 15-16 मई को कलकत्ता में भूमिगत रूप से पहली कांग्रेस हुई। सर्वसम्मति से कामरेड चारु मजुमदार पार्टी के महा मन्त्री चुने गए।

एक साल के अन्दर श्रीकाकुलम के 300 गाँवों में से 300 से 400 के बीच छापामार टुकडियाँ बन गईं। श्रीकाकुलम के नेता बेम्पुतापु सत्यम् तथा आदिभट्टाला कैलाशम् पुलिस के हाथों मारे गए। नक्सलबाड़ियों के खून से धरती लाल हो गई। इस आन्दोलन के नेता सफेदपोश बुद्धिजीवि नहीं, श्रीकाकुलम के गिरिजन थे, डेबरा के आदिवासी थे जिन्होंने जानें दी, मगर लाल झण्डे को गिरने नहीं दिया। माक्सिम गोर्की ने कहा है कि जैसे पुरानी सत्ता ऊपर से सड़ती है वैसे ही नई सत्ता दिमाग से उपजती है। यह नक्सलबाड़ियों ने प्रमाणित किया। प्रेसिडेन्सी कॉलेज, इंजिनियरिंग कालेज, आई.आई.टी, मेडिकल कॉलेज तथा अनुसंधान संस्थाएँ नक्सलबाड़ियों के केन्द्र बन गए। केरल में कॉमरेड अजिता के नेतृत्व में थाने पर हमला बोल दिया गया। जदुगोडा में पकडे गए नक्सलवादियों

में एक अंग्रेज़ युवती मेरी टाइलर थीं, जिन्होंने बाद में जेल की आपबीती पर संस्मरण लिखा था।

हथियारबन्द संघर्ष के जरिए गाँव से किसान-मज़दूरों की सत्ता कायम करते हुए भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (एम.एल) ने शहर घेरने को अपना लक्ष्य बनाया था। भूमिक्रान्ति उनका लक्ष्य था। उसे हासिल करने केलिए उसने वर्ग-दुश्मन के सफाये का रणकौशल अपनाया। पार्टी ने चुनाव का पूरी तरह बहिष्कार कर दिया। जेल में बन्द क्रान्तिकारियों ने जेल तोड़ना शुरु किया। जेल अधिकारियों ने भी क्रान्तिकारियों की नृशंस हत्या की। सरकार के खिलाफ युद्ध की घोषणा की गई। छात्रों ने चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति की तर्ज पर शिक्षा व्यवस्था पर प्रहार किया। बंगाल के तथाकथित पुनर्जागरण के नेता विद्यासागर और आशुतोष मुखोपाध्याय की मूर्तियाँ तोड़ी गई। गाँधी की मूर्ति की रक्षा करने केलिए दिन-रात पुलिस तैनात की गई। शहर की दीवारें अध्यक्ष माओ की उक्तियों से पटी हुई थी। मार्क्स ने कहा कि व्यक्ति जब सिद्धांत को पकड़ लेता है तो वह भौतिक ताकत बन जाता है। नक्सलवादियों ने दिखाया है कि वह वाकई वैसा ही है। हज़ारों लड़के-लड़कियाँ शहर से गाँव गए। 1975 तक क्रांति पूरी कर लेने की रूप रेखा बनाई गई। भूमिहीन किसानों को संगठित करना था। किसान-मज़दूरों की लाल सेना बनानी थी। हालॉकि यह सपना-सा था, मगर नक्सलवादियों के लिए वह ऐसा सपना था जिसके लिए जान तक दी जा सकती थी। बहुत लोग जैसे डॉ भास्कर राव, पंचाड़ी कृष्णमूर्ति, वेम्पुतापु सत्यम्, सुब्बराव पाणिग्रही, वर्गीस आदि मारे गए। 1971, अगस्त 4 को कॉमरेड सरोज दत्त को पुलिस ने पकड लिया। उसी रात कलकत्ते के मैदान में उनकी हत्या कर दी। 28 जुलई, 1972

को पुलिस ने लाल बाज़ार की पुलिस द्वारा हिरासत में लिए कॉमरेड चारु मजूमदार की हत्या कर डाली। 45,000 नक्सलवादी जेल में बन्द हो गए। पुलिस तथा गुण्डों ने मिलकर काशीपुर बरानगर में सैकडों नक्सलवादी युवकों की हत्या की। आपात्काल के समय में नक्सलवादियों को घोर पीडा सहन करनी पडी और इसी बीच बहुतों को अपने जीवन नष्ट हुए। केरल के कक्कयम् पुलिस कॉनसेन्ट्रेशन कैम्प में रीजनल इन्जीनियरिंग कॉलेज का छात्र कॉमरेड राजन की भी हत्या पुलिस ने की। पूरे भारत में क्रांतिकारी रूप दिखने या लगने वाले सभी युवा लोग नरक तुल्य पीडा के शिकार बने और उनमें अधिकांश इतिहास बन गये। सरकार एवं पुलिस ने युवा क्रांतिकारियों को दबाने में विशेष ध्यान दिया। नक्सलबाड़ी आन्दोलन कर्ताओं को ही घोर एवं क्रूर पीडा सहनी पडी। लेकिन उन्होंने हार नही मानी। वे अपने क्रांतिकारी विचार एवं कार्यकलापों के साथ आगे बढे। आपातकाल के सामय नक्सलबाड़ी क्रांतिकारियों के साथ बहुत बडा अन्याय किया गया। क्यों कि उस समय कोई पूछनेवाला नहीं था। पुलिस ही सर्वाधिकार के साथ कार्य कर रही थी। सारे के सारे राजनीतिक कार्यकर्ता जेल में बन्द थे। बाहर जो थे वे काँग्रेसी थे आपातकाल के समर्थक थे।

आपात्काल की असलियत

सन् 1969 देश की राजनीति में बिखराव का साल रहा। कांग्रेस के विघटन के साथ ही देश में एक विचित्र प्रकार की भीड की राजनीति आरम्भ हुई। विपक्षी दल ही नहीं सत्ताधारी दल ने भी अपनी शक्ति को बढाकर दिखाने केलिए भीड की राजनीति को बनाए रखा। यह भीड संगठित नहीं थी। किसी राजनीतिक विचार-धारा अथवा सिद्धांत से प्रेरित नहीं थी। सत्ताधारी नेताओं ने उसे आश्वासन

भरे वादे दिये थे। ऐसे वादे जिनमें सुनहरे भविष्य का वचन था। उन्होंने इसीलिए भीड को सुरक्षित रखा कि चुनाव के दिनों इन्हें वोटों में बदल सकते थे। ये वादे सचमुच ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। भीड के बल पर नेताओं ने दल के आंतरिक संघर्ष पर भी विजय पायी और चुनाव के मोर्चे पर भी अपने सभी विरोधियों को मात दी।

पर 1973 से स्थितियाँ काफी गंभीर होने लगीं। 1975 में तो स्थिति और भी गम्भीर हो गयी कि देश में आपातकाल की स्थिति की घोषणा करनी पडी। भीड हताश हो गयी। वह दूसरा मोर्चा ढूँढने लगी। 3-4 वर्ष पूर्व इसने जिसका समर्थन किया था उससे वे अलग हो गए। इसका परिणाम बना आपातकाल। उस की घोषणा की ही देर थी कि संगठित भीड तितर-बितर हो गयी। कुछ लोग भौंचक्के से रह गये। अधिकतर 20 सूत्रीय जाप में लग गये। जिन में साहस था उन्होंने प्रतिक्रिया का राह अपना लिया। उनमें कुछ राजनीतिज्ञ थे सही किन्तु उनके अनुयायी अदृश्य हो गये। छात्र नेता थे किन्तु उनके अधिकांश साथी घर बैठ गये। कुछ मजदूर नेता भी थे किन्तु उनके "हजारों क्रांतिकारी मजदूर" तानाशाही व्यवस्था की मजदूर विरोधी नीतियों के होते हुए भी सडकों चौराहों पर उतरने से कतराते थे। भय और आतंक ने सहस्रों बहादूरों को अपंग बना दिया। आपात् स्थिति में कई दलों एवं संगठनों से साहस की प्रतीक्षा हुई और सभी पूर्ण रूपेण विफल रहे।

जिन परिस्थितियों में आपात् स्थिति की घोषण हुई और जिस ढंग से वह देश में लागू की गयी वह नागरिकों केलिए एक चेतावनी थी। श्रीमति गांधी ने राष्ट्रपति को बाह्य आपात्स्थिति के रहते हुए भी आंतरिक आपात्स्थिति

लगाने की सलाह देते समय मंत्रिमंडल और देश के महत्वपूर्ण प्रशासकीय संचालकों और अधिकारियों से किसी प्रकार की सलाह नहीं की और उन्हें जानबूझकर अंधकार में रखा। उनके पास पर्याप्त समय था। किंतु मंत्रिमंडल से इस संबध में कोई विचार विमर्श नहीं किया। मंत्रिमंडल की बैठक 90 मिनट की सूचना पर बुलाई जा सकती थी। इसका मतलब है श्रीमती गांधी ने आपात् काल लगाने की योजना लगभग 22 जून को ही बना ली थी। उन्होंने अपने कुछ विश्वस्त राजनीतिक मित्रों से इस संबध में 25 जून को प्रातः चर्चा भी की थी।

आपातकाल की प्रेरणा

श्रीमति गांधी का विचार था कि यदि इलाहाबाद उच्च न्यायालय का फैसला मानकर इस्तिफा देने से न्यायालय का सम्मान भी होगा और एक ईमान्दार राजनीतिक नेता के रूप में उसकी हैसियत बढेगी भी। "इस्तीफा देने से इन्दिरा पूरे देश की तालियों का पात्र बनती। 1971 के चुनाव के समान आसानी से सत्तासीन होने की आशा करते हुए एक प्रजातंत्रीय शासनवादी के रूप में हैसियत बढेगी। लेकिन सवाल यह था कि यदि सर्वोच्च न्यायालय छः साल तक चुनाव लडने से अयोग्यता लगाई तो, स्थिति क्या होगी? यह छः साल कांफी लम्बा समय है, उनके द्वारा किये गये सत्कर्मों को भूल जाने केलिए काफी है। सत्ता के प्रति मोह रखनेवाले अपने ही दलवालों और बाहरवालों केलिए खुदाई करके हड्डियाँ दर्शाने केलिए यह समय बहुत ही ज्यादा है।"[1] अपने विश्वस्त मित्रों से चर्चा करने पर भी इंदिरा जी को और कोई मार्ग सामने नहीं आया। कलकत्ता के

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. पृ. 18

मुख्यमंत्री सिद्धार्थ शंकर राय से चर्चा की तो उनके मतानुसार सिर्फ एक ही मार्ग सामने था, आंतरिक रूप में आपात्काल की घोषणा करना। बंगला देश के युद्ध के दौरान् 1971 में बाहरीय स्तर पर आपात्काल की घोषणा की गयी थी। उन्होंने श्रीमती गांधी को समझाया कि यदि आंतरिक समस्या मौजूद है तो अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति को आपात्काल की घोषणा करने का अधिकार है, जिसके द्वारा सरकार को जनता पर अनियंत्रित अधिकार मिलेगा। उसके तहत केन्द्र सरकार धारा 19 के अनुसार जनता के मौलिक अधिकारों पर रोक भी लगा सकती है। इन सलाह मशविराओं के सहारे तथा अपने हाथों से अधिकार खो जाने के बाद यदि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्वाचन में रोक लगा दी जाए तो हमेशा हमेशा केलिए सत्ता से बाहर रहना पडेगा। इसी विचार ने श्रीमति गांधी को अपने आपात्काल की घोषण के लिए प्रेरित किया। भारतीय इतिहास में यह एक पहला राजनीतिक नेता थी जिन्होंने बिना किसी गंभीर वजह से सिर्फ सत्ता को बनाये रखने केलिए ऐसा कुकर्म किया था।

यहाँ श्रीमति इन्दिरा और उनके पिता पंडित नेहरु के विचारों में स्पष्ट अंतर देख सकते हैं। जब 1962 अक्तूबर में चीन के साथ युद्ध हुआ तथा इसके उपरांत संपूर्ण भारत की जनता नेहरू विरोधी बन गयी तो तत्कालीन गृहमंत्री कृष्ण मेनोन आपात्काल की घोषणा करने का प्रस्ताव रखा पर प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की परंपरागत शैली में पतन होने की संभावना के कारण नेहरू ने आपात्काल की घोषण का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

प्रजातंत्रीय शासन मर्यादा का उल्लंघन

25 जून 1975 की रात में ही आपात्काल के अन्तर्गत 'मीसा' में गिरफ्तारी, समाचार पत्रों को बिजली काटना जैसे कार्य शुरु होते हैं जो आपात्काल की पूर्व योजना को दर्शाते हैं। प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था की सारी मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए भारत की राजनीति के इतिहास की एक दुर्घटना बन गया आपातकाल। देश में किसी प्रकार की गड़बड़ी की आशंका नहीं थी। आर्थिक स्थिति अच्छी थी, नियंत्रण में थी तथा उसमें गिरावट होने की कोई संभावना भी नहीं थी। तत्कालीन प्रपत्रों, गुप्त सूचनाओं तथा समाचार पत्रों से यह स्पष्ट है कि उस समय कोई असाधारण स्थिति भी नहीं थी जिसके कारण आपात्काल की घोषणा को उचित ठहराया जा सके।

राष्ट्र के हित और सुरक्षा को आंतरिक अथवा बाह्य स्तर पर किसी प्रकार का खतरा भी नहीं था। इसके खिलाफ प्रस्तुत करने केलिए श्रीमति गांधी अथवा किसी अन्य के पास कोई प्रमाण नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि आपातकाल की घोषणा का एक ही कारण प्रधानमंत्री को अपने पद को सुरक्षित रखना था। इस फैसले के उपरांत शासक और विरोधी दलों में राजनीतिक गतिविधियाँ बढ गयीं। यदि जनतांत्रिक परम्पराओं का पालन किया गया होता तो कुछ ही समय में स्थिति सामान्य हो गयी होती। किन्तु श्रीमति गांधी की सत्ता में बने रहने की उत्सुकता ने देश की सारी परिस्थितियों को बदल डाला था।

आपात्काल और सी.पी.आई (एम)

आपात्काल की घोषणा पर विभिन्न राजनीतिक दल एवं नेताओं ने कटु भाषा में आलोचना की। श्री. ए.के. गोपालन सी.पी.आई (एम) ने कहा,

"देश में आपात्काल की घोषणा करने का मूल कारण देश की आंतरिक सुरक्षा में लगी कोई चुनौती नही है बल्कि इलाहबाद उच्च न्यायालय की फैसला एवं गुजरात चुनाव में कांग्रेस को हुई पराजय के कारण ही तुरंत आपात काल की घोषणा की गयी है। सर्वाधिपत्य एवं एक दलीय स्वेच्छाधिपत्य की ओर मेरी पार्टी पिछले तीन साल से जो चेतावनी देती रही, वह आपातकाल की घोषणा से सच साबित हो चुकी है। इस घटना से संसदीय जनतंत्र शासन व्यवस्था के स्थान पर नेता केन्द्रित स्वेच्छाधिपत्य ने स्थान ग्रहण कर लिया है। जनतंत्र से स्वेच्छाधिपत्य की ओर का यह बदलाव सत्तासीनों को शासन जारी करने तथा देश की वर्तमान समस्याओं से भाग जाने का तंत्र मात्र है। हाल ही में रोक लगाए गए आर.एस.एस. तथा अनन्दमार्ग के प्रति सरकार की नीति अपने सुविधानुसार बदलती रहती है। 1965 में जब भारत पाकिस्तान युद्ध हुआ था, दिल्ली पर पहरा करने का कार्य प्रधान मंत्री लाल बहादूर शास्त्री जी ने आर.एस.एस. को सौंप दिया था।"[1] इस प्रकार सी.पी.आई. एम. ने काँग्रेस की नीतियों तथा आपातकाल की घोषणा का खुलकर विद्रोह प्रकट किया था।

पत्रकारिता और आपात्काल

आपात्काल की घोषणा ठीक पहले ही प्रेसों पर कार्रवाई शुरू हो चुकी थी। "1975 जून 25 देर रात का समय, टेलिफोन की घण्डी ने मुझे जगाया, कहा कि भोपाल से बात कर रहे हैं। वहाँ सडक पुलिस से भर गये है। तुरंत फान की घण्डी बजने लगी, जलन्धर के एक प्रेस से किया हुआ फोन था।

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. पृ. 83

उसने कहा कि उस दिन की पूरी प्रतियाँ पुलिस ने हड़प लिया है।"[1] "इन्ड्यन एक्सप्रेस से फोन आया और अप्राधिकृत स्रोतों से सूचना मिली कि नई दिल्ली के फ्लट स्ट्रीट बहदूर शाह सफर मार्ग के सभी अखबार कार्यालयों की बिजली काट दी गयी है तथा काफी कुछ समय तक बिजली मिलने की संभावना भी नही है।"[2]

अखबारों के मुँह बंद किए गए, हिन्दी पत्रिकाएँ जैसे पांचजन्य, तरुणभारत (दैनिक), राष्ट्र धर्म (पत्रिका) आदि बंद की गईं हैं। समाचार अभिकरण कार्यालयों में सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति की गयी ताकि अनपेक्षित सामग्री का चयन और हवन उसके उद्भव स्थान में ही किया जा सके। विदेश समाचार अभिकरणों द्वारा दी गयी सामग्रियों का भी निरीक्षण किया गया तथा 'सोवियट यूनियन' जैसे मित्र राष्ट्रों केलिए हानिकारक समाचारों को भी सेंसर करने लगे थे। श्री जय प्रकाश नारायण जी के 'एवरीमेन' 'प्रजानीति' जार्ज फेरनांडेस का 'प्रतिपक्ष' पीलूमोडी के 'मार्च ऑफ इंडिया' आदि को अपना प्रकाशन कार्य बंद करना पडा। जनसंघ के 'मदरलैंड' तथा 'ओरगनैसर' दोनों को रोक लगा दी गयी तथा कार्यालयों पर ताला लगा कर मुद्रण भी किया गया।

पत्रकारों का विरोध

अखबारों पर लगाये सेंसरषिप के खिलाफ आवाज़ उठाने हेतु जून 29 को पत्रकार (करीब 100) प्रेस क्लब ऑफ इंडिया में सम्मिलित हुए। उन्होंने सरकार से सैंसरषिप हटाने केलिए निवेदन किये। उन्होंने सरकार से यह निवेदन

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. की भूमिका से उद्धृत
2. वही पृ. 89

भी किया कि गिरफ्तार किये गये 'हिन्दू समाचार' के जगतनारायण, मदरलैंड (दिल्ली) के एम.आर. मिलकानी आदि का मोचन करें। विदेशी पत्रकारों को उनके समाचार के हिसाब से गिरफ्तार नहीं कर सकते थे। लेकिन देश से बाहर कर सकते थे। इस प्रकार सबसे पहले देश से बाहर किया गया व्यक्ति है वाषिङ्टन पॉस्ट के लूई एम. सैमन। उन्होंने 'संजय गांधी और माँ' शीर्षक एक लेख का प्रकाशन किया था। उन्होंने उस लेख में अपना दृष्टिकोण यों व्यक्त किया "भारत के गंभीर समस्या प्रधान संदर्भों में प्रधानमंत्री मंत्री सभा के सहकर्मियों पर भी अविश्वास करते हुए महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय लेने केलिए अपने पुत्र विवाद नायक संजय का ही आश्रय लेती हैं।"[1] श्रीमति इंदिरा गांधी केलिए हर निर्णय संजय ही लिया करता था। केन्द्र मंत्री एवं मुख्य मंत्रियों केलिए वही (संजय) आदेश देते थे। प्रधान मंत्री से चर्चा करना चाहने पर खुद प्रधान मंत्री 'संजय से बात कीजिए' कहा करती थी।

आपात्काल और पुलिस

सरकार को कोई शंका या चर्चा करने की जरूरत नहीं थी कि किस नियम के तहत नेताओं और जनता को गिरफ्तार करना है। आंतरिक सुरक्षा नियम संशोधन एक साल पहले किया गया था। अदालत में बिना मुकदमा चलाये व्यक्तियों को रोक रखने, गिरफ्तार कर लेने का अधिकार इस नियम (मीसा) के तहत सरकार को प्राप्त था। लेकिन नियम के संशोधन के दौरान् सरकार द्वारा प्रतिपक्षवालों को यह विश्वास दिलाया था कि 'मीसा' के तहत राजनीतिक

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. पृ. 68

प्रतियोगियों का गिरफ्तार नहीं किया जाएगा। बडे बडे पुलिस अधिकारियों को सूचना दी गयी कि जयप्रकाश नारायण, मोरार्जी, जनसंघ के नेता अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण अड्वानी आदि को गिरफ्तार करने की आवश्यकता है। आपात्काल की जानकारी न होने के कारण पुलिस अधिकारियों ने जानना चाहा कि नियम के किस धारा के अनुसार गिरफ्तार किया जा सकता है तो उन्हें निदेश दिया गया कि भारत के दण्ड नियम की धारा 107 के आधार पर गिरफ्तार किया जाए। वास्तव में भटकते भिखारियों एवं ऐरे-गौरों को गिरफ्तार करने केलिए ही इस धारा का प्रयोग किया जाता था। फिर इस धारा के तहत जे. पी. और मोरार्जी को कैसे गिरफ्तार किया जा सकता है। अधिकारियों की शंका बढ़ी।

राज्यों में मुख्यमंत्री के साथ उनके पुलिस ऐ.जी एवं मुख्य सचिव मिलकर गिरफ्तार किए जाने वालों की सूचि तैयार कर रहे थे। जब दिल्ली में गिरफ्तार करने केलिए पहुँचे अफसरों से वारंड माँगा गया तो धमकी देकर गिरफ्तार कर लिया। स्थानीय मजिस्ट्रेट जैसे कानून के लोग भी सरकार के पक्ष में खडे होने केलिए विवश हो गए। इसलिए पुलिस का राज बन गया। वे अपनी मन मानी करने लगे। कोई पूछनेवाला नहीं था।

बहुत पहले के इंटलिजेन्स अभिलेखों के मुताबिक तैयार की गयी सूची के अनुसार ही गिरफ्तारी हो रही थी। 1968 में चल बसे एक व्यक्ति की गिरफ्तारी केलिए पुलिस ने आग्रा में स्थित एक मकान पर छापा मारा था। सरकार के इस काले करतूतों तथा इन्दिरा जी के स्वेच्छाधिपत्य के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत देश में सबसे पहले महाराष्ट्र उच्च न्यायालय के बार असोसियेशन ने

दिखाई। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'स्टे' उपलब्ध होने के कारण उसका सम्मान करना ही है। बार असोसियेशन अध्यक्ष श्री राम जठ मलानी ने इन्दिरा जी को मुसोलिनी एवं हिट्लर से तुलना की। साथ ही साथ देश के अन्य बार असोसियेशन ने भी अपना विरोध प्रकट किया, लेकिन पश्चिम बंगाल के बार असोसियेशन छुप रहे। अमेरिका के एक मजदूर संघ ए.एफ.एन.सी.आइ.ओ. ने कहा कि "भारत प्रजातंत्र को कसने वाला एक पुलिस राष्ट्र बन गया है।"[1] पुलिस का व्यवहार अत्यंत भयंकर एवं अमानवीय था। गिरफ्तार किये गए व्यक्तियों पर पुलिस कई प्रकार की पिटाई की शैली अपनाती थी। लोहा लगाये गए बूट से नग्न शरीर पर प्रहार करना, पैरों पर निष्ठूर ढंग से मारना, अबोध होने तक दोनों कानों पर ज़ोर से मारना, बन्दूक से मारना, विद्युत चालक लोहों को शरीर के द्वारों में लगाना, नंगा करके बर्फ के ऊपर लिटाना, सिगरेट और दिये से शरीर को जलाना, हाथों को पीछे बांध रखकर रस्सी से लटकाकर हवाई जहाज़ की तरह हांकना आदि हिरासत में रखे गए लोगों पर किये जाने वाले दण्ड थे।

जार्ज फरनान्डस के छोटे भाई लोरन्स फरनान्डस के प्रति भी पुलिस का ऐसा ही व्यवहार हुआ था। जार्ज फरनान्डस को गिरफ्तार न कर पाने के कारण उनके बारे में जानकारी हासिल करने केलिए ही उनके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया था। हर गिरफ्तार के साथ पुलिस का ऐसा ही व्यवहार हुआ करता था। आपातकाल के समय पुलिस की यातनाओं से गिरफ्तारियों के एक भी अंग वंचित नहीं रहा। पुलिस का विद्वेष ज्यादात्तर बुद्धिजीवियों को केन्द्रित करते हुए

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. पृ. 65

था। पुलिस द्वारा किये गये आक्रामक व्यवहार में जून 26 को ही दिल्ली विश्वविद्यालय के 200 अध्यापकों को गिरफ्तार किया गया। और वे उनके साथ वही अमानवीय व्यवहार करने से पीछे नही गये। तत्कालीन दिल्ली विश्व विद्यालय के अध्यापक संघ के अध्यक्ष श्री. ओ.पी. कोहली को शारीरिक दुर्बलता के बावजूद लोकप में चौबीस घंटे खडा किया था। उनके साथ इतना क्रूर व्यवहार किया कि आयू और सम्मान की परवाह किये बिना जूता मारा और गालियां दी। कई बार वे गिर गये फिर भी जबरदस्ती खडा कर दिया गया। मिसा के तहत गिरफ्तार किए गए एक विख्यात कम्म्यूनिस्ट नेता थे राबिन कलित। इन्हें गौहटी के अस्पताल में डाला गया था। उनकी स्थिति काफी बिगड गयी थी। लेकिन उस स्थिति में भी उनके हाथों से हथकडियाँ निकाली नहीं थीं। सगे संबधियों को उनकी शुश्रूषा करने नहीं दी तथा उन हथकडियों के साथ ही उनकी मृत्यू हुई। दिल्ली के एक पार्क में मनोरंजन केलिए आते समय हेमंत कुमार विष्णेय को गिरफ्तार किया गया था। उनको सिर नीचे करके लटकाकर बहुत मारा। नाक् एवं पाखाने की जगह लाल मिर्च का प्रयोग किया गया। पुलिस यही चाहता था कि प्रधान मंत्री के खिलाफ षड़यंत्र रचने में कुछ लोगों को गिरफ्तार करना तथा यह साबित करना कि देश में आपात्काल की घोषणा करना अनिवार्य था।

आपात्काल एवं नसबन्दीकरण

प्रत्येक राज्य के मुख्य मंत्रियों केलिए निश्चित लक्ष्य निर्धारित किये गये थे। लक्ष्य निर्धारण करनेवाला और कोई नहीं था प्रधान मंत्री जी के प्रिय पुत्र संजय ही था। उनकेलिए लक्ष्य प्राप्ति ही प्रधान था। जिस मार्ग का भी सहारा लेकर लक्ष्यप्राप्त करने का सख्त आदेश मुख्य मंत्रियों को दिये गये थे। इसके

फल स्वरूप देश में निर्दय एवं हीन ढंग से नसबन्दीकरण होने लगा। यह भारत की राजनीति के इतिहास का काला अध्याय था। भारत सरकार का लक्ष्य 4 लाख था। पर उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री संजय को खुश कराने हेतु अपने लक्ष्य को 15 लाख तक बढाया। सरकार ने प्रत्येक विभाग एवं जिला केलिए कोटा निश्चित किया। लक्ष्य प्राप्ति में असफल अधिकारियों एवं अध्यापकों को पदोन्नति एवं वेतन वृद्धि नहीं दी जाती थी।

जिल्लाधीशों के आदेशानुसार जबरदस्त नसबन्दी केलिए पुलिस इधर उधर भाग रहे थे। गाँवों में भयानक स्थिति पैदा हो गई। स्त्री-पुरुष अपने मान एवं इज्ज़त को बचाने केलिए घर छोडकर भाग जाते थे। डाकुओं के ज़माने में भी उन्हें घर छोडने की नौबत नहीं आयी थी। पर अब पुलिस के डर से घर छोडकर उन्हें छिपकर अपने खेतों का आश्रय लेना पडा।

दिन में 6000 तक शल्यक्रिया की रेकोर्ड की ओर नसबन्दीकरण का विकास होने लगा था। मुसफर जिला में जिलाधीशों ने परिवार नियोजन 'कैम्प' का आयोजन किया। जनता को बडी रकम दान देने केलिए प्रेरित किया। विरोध करनेवालों को मिसा एवं डी.आई.आर के तहत गिरफ्तार करने की धमकी दी। पुलिस अपने शिकारों को बस स्टॉट एवं रेलवे स्टेशन से पकड लेती थी और उनका जबरदस्ती नसबन्दीकरण करवाती थी। तीन दिन तक एक इलाके से विवाहित एवं अविवाहित, बच्चे वाले, बच्चे रहित, युवा एवं वृद्ध आदि सभी को पकडकर नसबन्दी की शल्यक्रिया करवाई गई। इस प्रकार यों ही लोगों को पकडकर कैम्प ले जाने पर जनता ने क्रूद्ध होकर उन्हें छुडवाने केलिए आवाज़

उठायी। तत्पश्चात हुए दंगे में 25 लोग मारे गये तथा अनेक लापता हो गये। यह घटना बाद में 'मिनि जालियनवाला बाग' नाम से जानने लगी।

रोहतक जिले में एक वयस्क अध्यापिका को वेतन मिलने केलिए दो आदमियों को नसबन्दी करवाने का आदेश जिल्ला शिक्षा अधिकारी द्वारा दिया गया। लेकिन उन्हें आदमी नहीं मिले। अंत में दो पागल भिखारियों को 'कैम्प' में लिवाया गया तथा अपना वेतन छुडवा लिया गया। राज्य के हरिजन तथा अन्य पिछडी जाति के लोगों को और अधिक अत्याचार सहना पडा। सरकार ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया कि वे विवाहित है या अविवाहित। पत्नी हीन बूढे लोग, उत्पादन हीन, सभी को पकडकर नसबन्दीकरण की शल्यक्रिया करवाने लगी। सरकारी कार्यालयों में कर्मचारियों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार हुआ। नसबन्दीकरण केलिए आयोजित शल्यक्रिया कैम्पों में ऑपरेशन की असफलता के कारण अनेकों की मृत्यू भी हुई पर उसका कोई रिपोर्ट नहीं बनाया गया। सरकार की नीतियों के साथ अनचाह सहयोग करने पर भी नसबन्दीकरण शल्यक्रिया के दौरान् बहुतों को अपने परिवार के प्रिय जन नष्ट हुए।

आपात्काल एवं दिल्ली सजावट

परिवार नियोजन के साथ साथ दिल्ली को सजाना संजय का एक स्वप्न था। दिल्ली विकास प्राधिकरण के अध्यक्ष को प्रधान मंत्री जी का पुत्र हर समय पर नगरों के सौंदर्य बढाने केलिए दिशा निदेश देते रहे। इस कार्यक्रम के दौरान जनता को अधिकारियों एवं पुलिसों द्वारा बहुत कुछ सहना पडा। अनेक लोगों को अपनी बस्तियाँ नष्ट हो गई। विरोध करनेवालों को अपना जीवन

गंवाना पडा। इस कुकर्म के कारण देश की जनता को जो कुछ सहना पडा था इसका चित्रण हुआ राही मासूम रज़ा के 'कटरा बी आर्जू', यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र के 'प्रजाराम' तथा मुद्राराक्षस के 'शांति भंग' जैसी रचनाओं में काफी प्रभावी ढंग से हुआ है।

अप्राधिकृत भवन एवं इमारतों का निवारण कार्य शुरू करने पर लोग अपने घर छोडकर भागने लगे थे। 'मुस्लिम आबादी' नाम का एक मुहल्ला था। टर्कमेंट गेट के निवासियों ने अत्यंत उत्कंण्डा भरी दृष्टि से देखा कि उनके निवास स्थान के निकट बहुत सारे बुलडोज़र खडे थे। लोगों ने तत्कालीन राजनीतिक नेता एच.के.एल. भगत् से भेंट की। उन्होंने जनता को आश्वासन दिया कि उन के मकानों को कुछ नही किया जाएगा। क्यों कि जनता पीढी-दर-पीढियों से वहाँ बस रही थी। लेकिन अप्रैल 19 को बुलडोज़र टर्कमेंट गेट की ओर बढने लगे। बुलडोजर को रोकने केलिए तुंरत कुछ लोग उसके सामने बैठ गये। फिर बहुत से लोग उनके साथ हुए। वे करीब सौ से ज्यादा थे। दुपहर बनते ही ट्रक भरे सी आर.पी.एफ के जवान तथा दिल्ली पुलिस वहाँ पहुँच गये। कुछ ही क्षणों में पिटाई होने लगी जनता की दयनीय आवाज़ चारों ओर गूँजने लगी। कडी लाठी चार्ज हुई। वह अत्यंत भयंकर भी था। स्त्रियों ने अपने रसोई के उपकरणों को लेकर पुरुषों की मदद की। पुलिस से टकर हुई। पुरुषों को पुलिस की पकड से छुडवाया गया। पर क्रुद्ध पुलिस ने करीब तीन घंटे तक गोली चलायी, तथा 'निशानियम' लागू कर दिया। उस समय करीब 14 बुलडोज़रों ने घरों को कसने का मज़ा लिया। हजारों घरों को ज़मीन बना दिया गया। लगभग 150 लोग मारे गये। 700 लोगों को गिरफ्तार किया गया। 45 दिन तक 'निशा नियम' जारी रहे।

इस अवधि में एक एक घर लूट लिए गये। नव वधुओं को अपनी गहनें खोनी पडी। बूढों एवं विकलांगों की बुरी तरह पिटाई हुई। पर इन सब के बारे में अखबारें चुप रहीं।

सरकारी अधिकारियों केलिए अपने समर्पित सेवाभाव दर्शाने का सुअवसर था नसबन्दीकरण। छोटानागपूर में नियुक्त किये गये उप आयुक्त ही सबसे पहले 'उत्तम निष्पादन' केलिए 'गोल्ड मेडल' जीता था। स्वर्ण पतक जीतने की प्रतियोगिता में पटना भी काफी आगे आ चुका था । केन्द्र सरकार द्वारा 300000 नसबंदी निश्चित किया गया था। लेकिन बीहार 500000 नसबन्दी कराने में कामयाब हुआ। तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री श्री बिन्देश्वरी दुबे ने इस से प्रेरणा पाकर अधिकारियों को प्रोत्साहित किया कि 1976-77 के अंतिम चरण तक नसबन्दीकरण 1000000 पहूँचाना है।

नसबन्दी का जबरदस्ती के साथ प्रचार किया जा रहा था, "नसबन्दी इधर यकायक जैसे एक उद्योग बन गयी थी। एक तरफ बहुत से लोगों ने प्रेरणा के नाम पर कमाई शुरू कर दी, तो दूसरी तरफ नसबन्दी से बचने केलिए अस्थायी रूप से जल्दी जल्दी घूस की दर तय हो गयी। निश्चित घूस देकर नसबन्दी से बच भी जा सकता था।"[1] नसबन्दी के नामपर इतना अत्याचार भारत में हुआ कि सिर्फ शारीरिक बलप्रयोग ही नहीं हुआ बल्कि सरकारी कर्मचारियों के वेतन वृद्धि, पदोन्नति आदि पर रोक लगाते हुए कार्यालयीन परिपत्र जारी किये गये। अनुज्ञावर्तियों के पुनरीक्षण भी नसबन्दी के आधार पर ही किया जाता था।

---

1. कुलदीप नय्यार जड्जमेंट. पृ. 83

दिल्ली के क्षेत्रीय प्रशासनिक प्राधिकरण ने भी परिपत्र जारी किया कि नसबन्दीकरण केलिए योग्य सरकारी कर्मचारियों को प्रमाण पत्र उपलब्ध कराने पर ही वेतन दिया जाएगा। कोर्परेशन हज़ारों अध्यापकों को मौखिक आदेश दिया गया कि प्रत्येक व्यक्ति को छः या पाँच लोगों को नसबन्दी केलिए प्रेरित करना चाहिए। बच्चों के माता पिताओं में से एक का नसबन्दीकरण अनिवार्य है नहीं तो बच्चों को कक्षा में पास न कराने का अधिकार स्कूल के प्रधान अध्यापकों को दिया गया।

इस प्रकार आपातकाल की छाया में बहुत सारा अत्याचार दूसरे राजनैतिक दलों के साथ तथा नक्सलवादियों के साथ किए गए। इन सबकी खबर बाहर आई 1977 में आपातकाल को समाप्त करने के उपरांत। सारी जनता काँग्रेस के खिलाफ हो गई। क्यों कि उन्होंने ही सारा अत्याचार किया था जनता के ऊपर। जनता ने इसकेलिए उचित दण्ड दिया। काँग्रेस को आम चुनाव में पूर्णतः पराजित किया। एक नई सरकार आई जनता पार्टि की सरकार मोरारजी देशाई के नेतृत्व में। इस प्रकार सन् साठ के उपरांत के दस-पन्द्रह वर्ष भारतीय राजनीति के क्षेत्र में बहुत बडे परिवर्तन का समय था जिसकी प्रतिक्रिया तत्कालीन साहित्य में अनुगुंजित है। सन् साठ के उपरान्त के उपन्यासों में इसकी सही अभिव्यक्ति हुई है। उन उपन्यासों की चर्चा आगे की जाएगी

प्रजाराम

श्री यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र कृत 'प्रजाराम' में आपात्काल और जनतापार्टी के शासन के छह महीनों को आधार बनाया गया है। इसमें एक ओर आपात्काल के अत्याचार, आतंक एवं संत्रास का चित्रण लेखक ने किया तो दूसरी ओर उससे उत्पन्न समृद्धि, शांति और विकास का। इसमें आदमी को थोडे समय केलिए राहत

मिली थी। उपन्यास के नायक 'प्रजाराम' के संबंध में लेखक का मत द्रष्टव्य है, "प्रजाराम' कोई नायक विशेष नहीं है, वह सर्वथा प्रतीक चरित्र है, और तत्कालीन मानसिकता का द्योतक भी है। अतः उसे इसी संदर्भ में देखा जाय"[1] 23 जून 1975 एक ऐतिहासिक दिन है कि प्रधानमंत्री इंन्दिरा गांधी ने आपातकाल की घोषण की थी। उस समय प्रजाराम सिनेमा का नाइट शो देखकर बाहर आ रहा था कि पता चला देश में इमरजेंसी लागू हो गई है। इमरजेंसी शब्द हीं उपस्थित व्यक्तियों में भय उत्पन्न कर दिया। तभी वहाँ इंजिनीयर अशुतोष आता है जो भ्रष्टाचारी है, उससे प्रजाराम कहता है कि देश में इमरजेंसी लग गयी है। यह सुनकर वह अवाक् रह जाता है। उसने बांध की सिमेन्ट में राख मिला दिया था, कमीशन के रूप में एक सौ मस्ट्रोल की जगह पाँच सौ मस्ट्रोल लिखा था। अपनी नौकरी के दौरान् उसने लाखों रुपये की आय बना ली थी। "मुझे आप नहीं पहचान सकते तो भला आप किसको पहचानेंगे? जिस आदमी ने आप के कहने पर एक सौ मस्ट्रोल की जगह पाँच सौ मस्ट्रोल बनाये थे उसे आप पहचान नहीं सकते थे आप सिमेन्ट में राख मिलाई थी.... आप ने इस तरह खूब पैसा बनाया।"[2] वह वी. नाथ और रामेश्वर को फोन करता है, तब रामेश्वर कहता है "देश में फैल रही अराजकता, लूट खसोट, महँगाई भ्रष्टाचार को रोकने केलिए इमरजेंसी की सख्त जरूरत थी।"[3] स्पष्ट है कि भ्रष्टाचारियों केलिए आपातकाल डरावनी थी तो इमानदारियों केलिए वरदान। लोग भ्रष्टाचार से ऊब चुके थे। वह

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, भूमिका "मैं इतना ही कहूँगा"
2. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. पृ. 32
3. वही. पृ. 7

किसी न किसी प्रकार इसकी क्षति चाहते थे। लेकिन कुछ लोगों ने इसका अनुचित उपयोग भी किया था।

आपतकाल का समर्थन

पूरे देश में सत्ता का ताण्डव हो रहा था तब भी इन्दिरा की जय बोलने केलिए बडे बडे नेता होड कर रहे थे। वे चापलूसों के घेरे में थीं। आम जनता को बिलकुल भूल गईं जिसने उन्हें उस पद पर बिठा दिया था। वे लोगों को दिखा देना चाहती थीं कि सारे नेता और जनता उन पर नज़र रखे हुए हैं। इसकेलिए हमेशा उनके चारों ओर चापलूसों की भीड बनी रहती थी। नाथ कहता है "मैं आपातकाल के समर्थन में एक अपील निकालना चाहता हूँ। ताकि हमारी प्रधानमंत्री हमें अपना खास आदमी समझें।"[1] अशुतोष आपात्काल से इतना भयभीत है कि उसे हर व्यक्ति सरकारी जासूस लगता है। प्रजाराम प्रधानमंत्री की नीतियों का विरोध करता है तो उसे मीसा के अन्तर्गत बंद करने की धमकी दी जाती है। आपात्काल की आड में रामेश्वर जैसे टुच्चे लोग भी नेता और पूंजीपति बन जाते हैं। अशुतोष के घर में जब रेड' होने लगती है तो उसका बचाव करते हुए रामेश्वर उससे कहता है, "ऐसा कि तुम कांग्रेस फंड में इक्कीस हज़ार दे दो। और बीस सूत्री कार्यक्रम पर बुकलेट छाप कर बंटवा दो।"[2] इस प्रकार अशुतोष को राजनैतिक संरक्षण प्राप्त हो जाता है। जबरदस्ती में बीस सूत्री कार्यक्रम जनता तक पहुँचाने तथा प्रचार करने हेतु अशुतोष जैसे भ्रष्ट इंजीनियरों को फँसाने में रामेश्वरों जैसे नेतागण अवसर ताकते रहते हैं और मौके का फायदा उठाता है।

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. पृ. 12
2. वही. पृ. 30

गोया कि बीस सूत्री कार्यक्रम जनता केलिए नहीं वरन् प्रधानमंत्री एवं उनके पुत्र से जुडे लोगों केलिए वरदान सिद्ध होने लगा। ये सब प्रजाराम की आखों के सामने घटने लगे। संजय गांधी को रातों रात पचहत्तर करोड़ जनता का राजकुमार बना दिया जाता है। रामेश्वर एक स्थान पर कहता है, "और संजय महान नेता है हम नहीं कहते बल्कि ये कितने ही संसद सदस्य, अधिकारी, राजनेता और जन-जन कह रहा है एक तरह से सारा देश कह रहा है।"[1] "संजय गांधी को खुश करने, उसके कृपा पात्र बनने केलिए स्वागत द्वार बनाये जाते हैं, तथा नवयौवनाएं हाथों में मालाएं लिए खडी मिलती तो संजय बडी ही छिछोरी नजाकत से मालाएँ लोगों पर फेंक रहा था, विशेषतः सुन्दर चेहरों पर।"[2] आपात्काल में नसबन्दी के कार्यक्रम में लोग पुरस्कार लेने हेतु ज़बरदस्ती नसबन्दी करने लगे। ज्यादा से ज्यादा नज़बन्दीकरण करवाने केअनुसार सरकार द्वारा अधिकारियों को पुरस्कार देना शुरु किए। कलेक्टर एम्बेसडर कार लेने हेतु तो अन्य अधिकारी गोल्ड मेडल लेने हेतु तीव्र गति में कार्य करने लगे। अखबार भी सरकार के रूख की तरह चलने लगे। "नजायज बस्तियाँ साफ हो रही थीं, बुलडोजर सुन्दरता के नाम पर बदसूरत घरों के वाशिंदों को उजाड रहे थे।"[3] जनता में आतंक व्याप्त हो गया लेकिन प्रधानमंत्री के निकटस्थ लोग आपातकाल को लोगों केलिए वरदान बताते रहे और प्रधनमंत्री को विश्वास दिलाते रहे कि संजय देश का महान नेता हो गया है। मतलब कि कुछ लोगों ने यह धारणा बना दी कि आपातकाल की घोषणा सफल निकली है।

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. पृ. 51
2. वही. पृ. 61
3. वही. पृ. 61

आपातकाल की ऐसी सफलता को देखकर चुनाव की घोषणा कर दी। इन्दिरा सरकार के प्रत्येक कदम से जे.पी.बिल्कुल असन्तुष्ठ थे वे भी सरकार के विरुद्ध काफी कुछ कार्य कर रहे थे तथा उनके प्रयासों से विरोधी दल मिलकर 'जनता पार्टी' के नाम से नये दल का गढन कर लिया गया। चुनाव की घोषणा से आपातकाल के दमन चक्र, बर्बरता, अधिनायकवाद, भाई भतीजावाद और भ्रष्टाचार जन सामान्य के सामने खुलने लगे। काँग्रेस के इन करतूतों से क्रुद्ध होकर उसको हराने में जनता पार्टी के नेतृत्व में प्रयत्न जारी रहा। कांग्रेस को हराने केलिए प्रजाराम कमर कस कर तैयार हो जाता है। उसने बस एक ही नारा लगाया, "तुम किसी को भी अपना वोट दो पर कांग्रेस को वोट मत दो। उसे हर कीमत पर हटाओ। उसने प्रजातंत्र तानाशाही व स्वतंत्रता के नाम पर हमें छला है। इनके हर शब्द जाल के पीछे आम आदमी का शोषण है।"[1] कांग्रेस के बडे बडे नेता अवसर का फायदा उठा कर जनता पार्टी में शमिल हो गये। अशुतोष कहता है, "इसे अवसरवादिता की राजनीती कहते हैं। प्रजाराम कल के कांग्रेसी आज जनता पार्टी के महारथी बन सकते हैं, तो कल का अवसरवादी आज इनका भोंपु क्यों नहीं बन सकता"[2] अशुतोष जैसे भ्रष्ट लोग भी जनता पार्टी के वरिष्टतम सदस्य बन जाते हैं। रामेश्वर आत्महत्या कर लेता है। जनता महँगाई के विरोध में प्रधान मंत्री का घेराव करती है। उसका नेतृत्व प्रजाराम करता है। यह देखकर प्रधानमंत्री प्रजाराम से पूछता है कि 'तुम नेता कब बन गये?' तो प्रजाराम कहता है "माननीय मंत्रीजी इस देश में लीडर व मंत्री बनने केलिए

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. - पृ. 100
2. वही 61

क्या कोई लम्बी तपस्या करनी पडती है ? जैसे आप प्रधान मंत्री बन गये, वैसे मैं प्रधान नेता बन गया।"[1] राजघाट पर गांधीजी की समाधी पर 1977 को संसद सदस्यों द्वारा शपथ लेने के दौरान दंगा हो जाता है। एस.पी. गोली चलाने का आदेश दे देते हैं और प्रजाराम घायल होकर गिर जाता है, तथा भाग जाता है।

आपात्काल का न्यायीकरण

देश में जब आपात्काल की घोषणा की गयी तब समाज के उच्चवर्ग की प्रतिक्रिया काफी निराशाजनक थी। देश में बहुत सारे बुद्धि जीवी मौजूद थे, शिक्षा के विद्वान नियमज्ञ, अधिकारी गण, चिकित्सक गण, अधिवक्ता आदि। लेकिन इनमें से किसी ने मूँह तक नहीं खोला। पर बहुत से लोगों ने आपात्काल को न्याय संगत ठहराने की कोशिश की। वे कहने लगे, "आपात्काल की घोषणा के पहले जीवन असुरक्षित सा था। हड्ताल, धरना आदि का भरमार था।"[2] यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र ने उपन्यास में इस बात की भी चर्चा की है। उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने जहाँ आपात्काल के आतंक, संत्रास, अत्याचार एवं भयावह स्थितियों का चित्रण किया है, वहीं आपात्काल की उन अच्छाईयों का भी। उसमें आम आदमी को थोडे समय केलिए राहत मिली थी। उपन्यास के रामेश्वर नामक पात्र के शब्दों में "देश में फैल रही अराजकता, लूट खसोट, महँगाई भ्रष्टाचार को रोकने केलिए इमरजेंसी की सख्त ज़रूरत थी।"[3] यह सच है कि उस समय अराजकता तो कम हो गई थी और कर्मचारी अनुशासित रहने

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. - पृ. 142.
2. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, प्रजाराम. - पृ. 8
3. वही. पृ. 7

लगे थे। प्रजाराम जो इस उपन्यास का प्रतीकात्मक नायक पात्र है, कई बार सोचता है कि प्रधानमंत्री की नीतियाँ जनहित में हैं। लेकिन क्रियान्वयन सही तरीके से नहीं हो पा रहा है। यहाँ उपन्यासकार ने तटस्थ होकर आपात्काल की अच्छाईयों एवं बुराईयों को प्रस्तुत करने का कार्य किया है। इस प्रकार आपातकालीन भीषणता तथा उसके उपरांत के राजनैतिक खेल को बहुत विस्तार से प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार ने यह दिखाया है कि राजनीति के क्षेत्र में कितने तुच्छ एवं अच्छे लोग सक्रिय हैं।

कटरा बी आर्जू

राही मासूम रज़ा का 'कटरा बी आर्जू' आपात्काल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने आपात्काल में सामान्य जनता पर किये गये अमानवीय अत्याचार, जेल में सामान्य व्यक्ति के साथ की गयी अमानवीयता, नगरों की खूबसूरतीकरण के नाम पर दरिद्र लोगों पर की ज्यादति और जबरदस्त नसबंदी और परिवार नियोजन प्रसार जैसे अत्याचारों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तत्कालीन भयावह स्थिति को जीवंत धरातल में प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यास पढने पर हमें आखों देखा हाल प्रतीत होता है।

रज़ा ने प्रस्तुत उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय तथा छोटे तबके के पात्रों के माध्यम से तत्कालीन यथार्थ को प्रस्तुत किया है। बहुत सारे अभावों के बावजूद उपन्यासकार ने इनकी मानवीय संवेदनाओं से संपन्न परम्परा, प्यार सहानुभूति, आशा-आकांक्षा तथा आर्जुओं सपनों से भरी जिन्दगी का मार्मिक चित्र

प्रस्तुत किया है। इसके बाद ही आपातकाल का माहौल खडा किया गया हैं। 'कटरा बी आर्जु' में उपन्यास के केन्द्र स्थल का नाम 'कटरा मीर बुलाकी' है। इस मुहल्ले की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह मोहल्ला साम्प्रदायिक तनावों से मुक्त है। यहाँ हिन्दु मुसलमान एक साथ रहते हैं जो भारत की अनेकता में एकता की भावना को प्रमाणित करता है। इस मोहल्ले के इर्द-गिर्द इस उपन्यास का घटना चक्र घूमता रहता है। इसमें शम्भू मियाँ और देशराज रहते हैं और एक गैरेज में काम करते हैं। 'कटरा मीर बुलाकी' के नुक्कड़ पर पहलवान भोलेनाथ को चाय की होटल है। यहाँ आशाराम नामक व्यक्ति का आना जाना होता रहता है जो इस मौहल्ले का रहनेवाला नहीं है। आशाराम पेशे से पत्रकार और वामपंथी विचार रखनेवाला व्यक्ति है। बिल्लो नामक एक लड़की है वह पहलवान भोलेनाथ की भानजी है। बिल्लो इसी मोहल्ले में जनता नाम से एक लाण्डरी चलाती है। वह देशराज से प्रेम करती है लेकिन उस से शादी करना नही चाहती। क्यों कि उसका अपना मकान नहीं है। इसलिए वह मकान बनाने के खातिर एक एक पैसा दाँत से पकड इकटठा कर रही है। शम्भू मिया के दो लडकियाँ हैं, उनका नाम है मेहनाज़ और शहनाज़। मेहनाज़ बेवा हो चुकी है, बाद में उसका निकाह जोखन मिया के साथ होता है। वह नसबंदी और परिवार नियोजन का प्रसार करती करती नेता बन जाती है। शहनाज़ मास्टर बदल हसन पर फिदा है। आपात्काल की घोषणा हो जाती है। पहलवान भोलेनाथ बिल्लो के सरल स्वभाव को तोडकर रख देते हैं। देशराज और बिल्लो तथा शहनाज और मास्टर बदल हसन के सपने धूल में मिल जाते है। प्रेमा आशाराम की प्रेमिका है। किसी बात को लेकर इन दोनों में अलगाव हो जाता है। प्रेमा आकाशवाणी में न्यूज़ रीडर है। आपातकाल

के कारण देशराज और प्रेमानारायण जैसे सहज विश्वासी युवकों को अमानवीय अत्याचार का सामना करना पडता है। इस आपातकाल में महनाज़ और जोखन मीया जैसे टुच्चे लोग नेता बन जाते हैं। नेता बनकर मौके का फायदा उठाते हैं।

पुलिस का अमानवीय व्यवहार

इस उपन्यास का एक पात्र है देशराज जो यू.पी. के एक गाँव में रहनेवाला है। उसके साथ पुलिस ने जो अमानवीय व्यवहार किया वह हर आदमी के हृदय को विकीर्ण कर देनेवाला था। आशाराम देशराज का दोस्त था। पुलिस आशाराम के बारे में जानकारी लेने केलिए देशराज को पकड लेता है। आशाराम के बारे में देशराज से 'पूछताछ' करता है। ठीक उत्तर न दे पाने के कारण देशराज को इतना सहना पडा कि एक साधारण मानव केलिए असहनीय था कि वह पागल हो जाता है, "जगदम्बा प्रसाद ने अपना नाम खत्म होते होते देश के हाथ पर अपना एक भारी बूटवाला पाँव रख दिया। देशराज तडप गया। पर उसमें इतनी ताकत नहीं थी कि हाथ को उस भारी पाँव वाले जूते के नीचे से निकाल सकें।"[1] "जगदम्बा प्रसाद ने उसे घसीटकर दूसरी दीवार पर दे मारा, और फिर तीनों सिपाही बडी मेहनत से 'पूछताछ' करने लगे। उसे उलटा लटका दिया। उसके पाखाने की जगह में पिसी हुई लाल मिर्च भर दी गई। उसे इलेक्ट्रिक शांक दिये जाने पर उसे भी जिद्ध आ गयी थी कि वह अपने दोस्त का पता नहीं बताएगा। वह न जाने कितनी बार बेहोश हो गया और उसे न जाने कितनी बार होश आया। उसने गिनना भी छोड दिया था। वह सिर्फ यह खेल खेल रहा था कि यह शर्त

---

1. राही मसामूम रजा, कटरा बी आर्जू- पृ. 180

लगाता अपने आप से ठोकर कहाँ पडेगी या डण्डा कहाँ पडेगी। या सिगरेट कहाँ बुझाई जाएगी। और अगर उसका अन्दाजा सही निकलता तो उसे एक अजीब सी खुशी होती। अब उसे यह सोचकर शर्म नहीं आती थी कि वह इतने लोगों के सामने नंगा है। क्यों कि बदन तो था ही नहीं। इस एक अथाह, नाकाबिले बरदास्त दर्द था और दहकती हुई आग सी एक प्यास थी।"[1] पुलिस के अमानवीय अत्याचारों के कारण देशराज पागल हो जाता है। भूतपूर्व मंत्री एवं वर्तमान राजनीतिक नेता जार्ज फरनान्डस के छोटे भाई लोरन्स फरनान्डस के प्रति भी पुलिस का ऐसा ही व्यवहार हुआ था। जार्ज फरनान्डस को गिरफ्तार न कर पाने के कारण उनके बारे में जानकारी हासिल करने केलिए ही उनके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया गया था।

उपन्यासकार ने आपात्कालीन अमानवीय व्यवहार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। प्रधान मंत्री जी के पुत्र संजय द्वारा प्रस्तावित नगरों के सौन्दर्य बढाने की योजना पर करारा व्यंग्य करते हुए ऐसी ही एक घटना का चित्रण किया गया है। उन्होंने यह दर्शाने की कोशिश की है कि अधिकांश गरीब लोग बेघर है और जिन्हें मकान हैं, वे तो कई मुश्किलें झेलकर बनाए गये हैं। उनके साथ ऐसा व्यवहार नितांत अन्याय है। इस उपन्यास के बिल्लो देश से प्रेम तो करती है लेकिन वह शादी इसलिए नहीं करना चाहती है कि उसका अपना निजी मकान नहीं है। वह मकान बनाने के खातिर एक एक पैसा दाँत से पकड इकट्ठा कर रही है। इस प्रकार बनाये गये मकान पर बुलडोज़र चलाया जाता है। बिल्लो बुलडोज़र

---

1. राही मसामूम रजा, कटरा बी आर्जू पृ. 182

के आगे आकर शाहीद हो जाती है। मानवीय संवेदनाओं को एक दम तहस नहस कर नगर सौंदर्यीकरण में लगे सत्तासीनों की दुहाई देना सभी रचनाकारों की रचना धर्मिता नहीं थी। यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र ने भी अपना उपन्यास 'प्रजाराम' में नगरों के सौन्दर्य बढाने वाले कार्य का चित्रण किया है। उन्होंने यह भी दिखा दिया कि सौन्दर्यीकरण के सिलसिले में दरिद्र जनता की कुटियों की खण्डहर बनाने में सत्ताधारियों को किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही थी। "नाजायज़ बस्तियाँ साफ हो रही थी; बुलडोज़र सुन्दरता के नाम पर बदसूरत घरों के बाशिंदों को उजाड़ रहे थे।"[1]

ऊपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास में आपातकाल की कडी आलोचना की है। उन्होंने उपन्यास के अंत में तथाकथित सम्पूर्ण क्रांति के नाम पर दलबदल कर जनता पार्टी में आए स्वार्थी नेताओं की असलियत की ओर भी संकेत किया है। आपतकाल के उपरांत इन्दिरा गांधी की पराजय हुई। जनता पार्टी का शासन स्थापित हुआ। पर जल्दी ही इस पार्टी में भी अन्तर्विरोध उभर कर सामने आने लगे। थोडे ही दिनों में पार्टी टूट गयी। जनता के मन की आशा भी नष्ट हो गई क्यों कि आज की राजनीति धन, गुण्डागर्दी और छल-प्रपंच पर आधारित है। प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने आपात्काल और उसके बाद की राजनीतिक स्थिति पर करारा व्यंग्य किया है।

शान्ति भंग

'मुद्राराक्षस' का उपन्यास 'शांतिभंग' आपातकाल के तीन साल के घृणित इतिहास पर आधारित है। यह उपन्यास मनुष्य की सम्पूर्ण मानसिकता को

---

1. यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र प्रजाराम पृ. 79

उद्‌घाटित करने का लक्ष्य रखकर चलता है, "यह वह मनुष्य था जो पीडित था। अत्याचार का शिकार था, असंतुष्ट और क्रुद्ध था, परन्तु भीषण रूप से आतंकित था। पेशेवर राजनीतिज्ञों ने उसके चरित्र बल को ही कुंठित नही कर दिया था, उसकी जीवनी शक्ति को भी समाप्त कर दिया था।"[1] आपात्काल के जीवन के इस रूप की आवेगहीन रपट प्रस्तुत करनेवाली यह रचना निश्चय ही एक उपलब्धि है।

उपन्यास की कथा एक मोहल्ले पर केन्द्रित है। उस मोहल्ले का नाम सराय दुर्विजय है। यह एक मिनि भारत के समान है। यहाँ के निवासियों की मानसिकता आम भारत वासी की मानसिकता को उद्‌घाटित करती है। यहाँ स्कूल गड़हिया वाला है, जिसके अध्यक्ष नन्द किशोर है जो हिन्दी पढाते है। यहाँ की महिलाएँ अपना कार्य समाप्त करके महिला मण्डल की सभा का आयोजन करती है। इस महिला मंडल की सभी सदस्यों का काम अवकाश के समय में दूसरे घरों के रहस्यों पर रसपूर्ण चर्चा करना है, भले ही उनके स्वयं के परिवार में वैसे ही रहस्य पल रहे हैं। यहाँ खरे रहते हैं जो रेलवे में गार्ड के पथ पर कार्यरत है। मुंशीजी विरोधी दल से संबन्धित है। आपात की घोषणा होते ही इनको गिरफ्तार कर लिया जाता है। खरे ड्‌यूटी पर अपमानित होते हैंऔर आत्मसम्मान की रक्षा के प्रयास में मृत्यु के ग्रास बने। लाला कुन्दनमल रस्तोगी जनसंध के अच्छे व प्रभावशाली नेता है। इनको भी आपातकाल के कारण गिरफ्तार कर लिया जाता है। इस सराय में एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति रहते हैं वे हैं हरिराम वैद्य। इनकी बडी पुत्री संतो को दहेज कम देने के कारण उसकी ससुराल वाले मारकर घर से

---

1. मुद्रा राक्षस, शांतिभंग, पृ. 79

निकाल देते हैं। वह लौटकर वैद्य जी के घर आ जाती है। वैद्य जी पानी में रंग और विशेष प्रकार की गंध मिलाकर बेचते हैं। यह बात सभी घर वाले जानते हैं।

मुंशी जी एक बार मंच पर भाषण दे रहे थे तो एक औरत अपने हाथ में बच्चा लिये मंच पर आ जाती है और उनके चरणों पर गिर जाती है तथा चिल्लाती है कि ये मेरे पति और इस बच्चे के पिता हैं, मुझे और बच्चे को छोड भाग आये हैं। मुंशीजी समझ लेते हैं कि यह चाल उसके विरोधी त्रिलोचन पांडे की ही हो सकती है। अतः उस स्त्री को अपने घर ले आते हैं। खरे के बडे बेटे को नक्लसवादी कहकर पुलिस पकड़ कर ले जाती है। वह जेल से भागने में सफल तो हो जाता है पर पुलिस की गोलियों का शिकार बनकर मर जाता है।

सरायदुर्विजय में नसबंदी का ज़बरदस्ती के साथ प्रचार किया जा रहा था, "नज़बन्दी इधर एकाएक जैसे एक उद्योग बन गयी थी। एक तरफ बहुत से लोगों ने प्रेरणा के नाम पर कमाई शुरु कर दी, दूसरी तरफ नसबन्दी से बचने के लिए अस्थाई रूप से जल्दी जल्दी घूस की दर भी तय हो गयी। निश्चित घूस देकर नसबन्दी से बचा सकता था।"[1] दुर्गा कचौड़ी वाला बाज़ार में कचौडी की दूकान चलाता है। नसबन्दी को लेकर उसमें और पत्नी के बीच बहस होती है कि कौन नसबन्दी कराये। तय लेता है कि पत्नी की नसबन्दी कराई जाय। ओपरेशन करवाने का निश्चय कर लेता है। लेकिन ओपरेशन सफल न होने के कारण वह मर जाती है।

---

1. मुद्रा राक्षस, शांतिभंग, पृ. 79

"सरकार की नीतियों के साथ सहयोग करने के प्रयास में बेचारे दुर्गा कचौडीवाले को अपनी पत्नी के नसबन्दी की भेंट चढानी पडती है और स्वयं राज़ी रोटी कमाने के अवसर नृशंसता पूर्वक छीन लिए गये"[1] उपन्यास का पात्र नन्दकिशोर गड़हिया वाला स्कूल का अध्यक्ष है जो यहाँ हिन्दी पढाते है। आपात्काल के समय नन्दकिशोर उस के समर्थन की शैली में अपने स्कूल का संचालन करता है और बच्चों को ले चलता है। वही नन्दकिशोर पर ज़बरदस्ती नसबन्दी करने का प्रयास किया जाता है। वह आदेशानुसार नसबन्दी करवाना नहीं चाहता था। नसबन्दी का प्रमाणपत्र पेश न करने के कारण उसे नौकरी से निलंबित किया जाता है। प्रमाण पत्र देने केलिए उससे पैसा तक माँगते हैं, लेकिन वह पैसा भी नहीं देना चाहता था। अंत में उसे नौकरी से हटा दिया जाता है। सराय के गरीब और निहत्थे घसीटे को भरे बाजार में डाकू अभियान के नाटक में गोली से उड़ा दिया जाता है। उसकी लाश प्राप्त करने के प्रयास में सभी को पुलिस के बहशीपन का शिकार होना पडता है। यही नही फटीचर कवि माथुर जी के आत्मसम्मान को कुरेद कर व्यवस्था ने उन्हें पहले भीषण प्रतिरोध केलिए विवश किया और अपमान और कारावास की दारुण यंत्रणा का पात्र बना दिया। मुंशी जैसे देवता लोगों को भी इस भ्रष्ट व्यवस्था ने नहीं छोडा।

इन्दिरा गांधी आपातकाल समाप्त करके चुनाव की घोषण कर देती है। त्रिलोचन पांडे चुनाव में हार जाते हैं, पंडित सदानन्द को मुख्य मंत्री बना दिया जाता है। नन्दकिशोर की उम्मीद बन जाती है कि उसके केस पर पुनः विचार होगा लेकिन उसे निराश होना ही पडता है। सदानन्द पर कातीलाना हमला

---

1. डॉ. आदर्श सक्सेना, समीक्षा (पत्रिका) अप्रैल जून अंक-1, पृ. 21

होता है जो कवि माथुर जी के द्वारा किया जाता है। इस तरह 'शांती भंग' उपन्यास में मुद्राराक्षस ने एक सराय को केन्द्र बिन्दु बनाकर आपातकालीन मनुष्य की मानसिकता, तिकडम, भ्रष्टाचार, भय, जैसी अनगिनत समस्याओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

रात का रिपोर्टर

रात का रिपोर्टर रिशी नामक एक पत्रकार को केंद्र में रखकर लिखा गया है। उसके आतंक और संकट को मानव नियति के संकट के रूप में देखा गया है। एक लेखक के रूप में निर्मल वर्मा की खासियत है कि वे बातों को स्पष्टतः प्रकट न करके उन्हें रहस्य के आवरण में ढंक कर प्रस्तुत करते हैं। इसलिए काफी कुछ पाठकों को अपने अनुमान पर छोड भी दिया जाता है। रात का रिपोर्टर का रिशी दिल्ली का एक सैंतीस वर्षीय युवक है जो एक फ्रीलांस संवाददाता है। उसके रिपोर्ताज और महत्वपूर्ण लोगों से लिये गए साक्षात्कार पत्रों में छपते रहते हैं। एक दिन वहीं, अखबार के दफ्तर में, एक लंबें और भारी जिस्म के सज्जन उससे मिलने आते हैं। जो सूट और टाई पहने थे और बड़े रहस्यमय ढंग से अगले दिन एक निश्चित समय पर टेलीफोन बूथ पर मिलने को कहते हैं। रिशी ने पहले, उन्हें देखकर, यह समझा कि कोई अपरिचित सज्जन होंगे जो उसके लेख या रिपोर्ताज की प्रशंसा करने यूं ही आ गया है। पर वे सज्जन जिस प्रकार अपनी प्रस्तावित भेंट की रूपरेखा निश्चित करते हैं, वे सब और भी रहस्यमय हैं। वे एक निश्चित समय पर आकर कार में बैठे रहेंगे और वह, वहीं प्रतीक्षा में खड़ा, दरवाज़ा खोलकर गाडी में बैठ जाएगा और कहीं एकांत और सुरक्षित जगह पर वे लोग बातें करेंगे।

ये सारी बातें रिशी को सावधान और चौकन्ना रहने के खयाल से बताई थी, ताकि वह आगे केलिए, स्थिति को देखते हुए, कोई रास्ता निकाल सके। लेकिन जैसा कि काफी स्वाभाविक था वह उस खतरे की प्रकृति को बहुत स्पष्ट न समझते हुए भी भयभीत और आतंकित हो उठता है। रिशी वास्तविक दहशत में पड जाता है, "यह शुरुआत थी; सरसराते पेड़ के नीचे आतंक का एक चमचमाता चकन्ना उनके बीच चला आया। डर के आने के कितने गोपनीय रास्ते हैं। पर जब वह सचमुच आता है, तो सब रास्ते अपने आप बंद हो जाते हैं, सिर्फ वह रह जाता है कैंसर के कीटाणु की भांति जिसके आगे मरीज की छोटी बीमारियां अचानक खत्म हो जाती है।"[1] धीरे धीरे रिशी के मन में जो आशंका थी वह एक प्रकार के ठोस डर के रूप में परिवर्तित होते है। 'लेकिन एक अजीब आशंका ने उसे जकड़ किया। पिछले दिनों की दहशत, जो एक धुंध की तरह फैली थी, किसी ने तराशकर उसे एक ठोस डर में बदल दिया... वह अब हवा में न होकर, एक सांस लेती सत्ता थी, जो सामने दिखाई न भी थे, किसी पल कोनों से बाहर निकलकर सामने आ सकती थी।"[2]

एक अनाम तथा परिभाषातीत दहशत पूरे उपन्यास में दर्शनीय है। उपन्यास में आपातकालीन आतंक की स्थिति की ओर इशारा करना ही यहाँ उपन्यासकार का उद्देश्य है। लेकिन इसकेलिए कहीं भी सीधा ज़िक्र या स्पष्ट संकेत नहीं देते। उपन्यास में आगे जाने पर पता चलता है कि देश में आपात् की स्थिति के दिन हैं और उसी सिलसिले में, राजनीतिक सेंसर के तहत, लोगों की

---

1. निर्मल वर्मा रात का रिपोर्टर पृ. 9
2. वही पृ. 75

घर-पकड बडे पैमाने पर चालू हैं। इस स्थिति के कुछ संकेत, बहुत अस्पष्ट रूप में उपन्यास में बिखरे पडे हैं, "राय साहब ने बहुत दुनिया देखी थी, लडाई के दिनों में लंदन में रहे थे, बी.बी.सी. की इंडिया सर्वीस में काम करते थे, बताते थे, कैसे वे एक दिन आर्वेल से पब में मिले थे और उनके साथ बियर पी थी... हर रोज़ लंदन पर बम गिरा करते थे और वे दिन-रात मकानों को जलता देखा करते थे... उनके लिए दिल्ली के ये दिन लंदन के उन वर्षों से कम बदतर नहीं थे।"[1]

देश में लगी आपात स्थिति का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, बहुत कुछ केवल अनुमान के सहारे ही निश्चित किया जा सकता है। बातचीतों और विभिन्न प्रसंगों में सेंसर और अंधेरे सुरंग जैसे शब्दों की छाया मंडराती रहती है। अनूप भाई की पत्नी और रिशी को यह तक पता नहीं कि आखिर उन्हें दिल्ली से बदलकर कहाँ ले जाया और रखा गया है। यही पूछने पर दयाल उसे सलाह देते हैं कि ज्यादा चिंता करने और परेशान होने से कुछ मिलने वाला नहीं है। "इन दिनों जो जहां है, वहाँ वह ठीक है...."[2] सरकार के द्वारा जो दमन नीति देश भर में लागू कर दिया जा रहा था उससे पत्रकारों को भी घोर पीड़ा सहनी पड रही थी। "दयाल बरामदे में बैठकर, बारिश के बीच, उस लंबी और एकांत भेंट में, बातों-बातों में लुंगी के ऊपर पहनी गई अपनी बुश्शर्ट को ऊपर उठाकर, अपनी नंगी, तंबई और चमचमाती पीठ वे उसके आगे कर देते हैं जिस पर अफ्रीकी टोटम की भांति कुछ निशान गुदे थे.... तांत्रिक मंत्रों की भांति कोई काला जाल..... वे बताते है..... मैं आप को अपने इंटरव्यू के कुछ निशान दिखाना चाहता था, जो

---

1. निर्मल वर्मा रात का रिपोर्टर पृ. 121
2. वही पृ. 122

उन्होंने भीतर लिया था, दिन-रात अड़तालिस घंटे.... आप पहले आदमी हैं, जिन्हें मैं ने इन्हें दिखाया है.... मेरी पत्नी भी इनके बारे में कुछ नहीं जानती। ज़रा सोचिए हम कैसे टाइम में जी रहे हैं जहां आदमी अपनी औरत के सामने नंगा नहीं हो सकता।"[1] यहाँ लेखक दयाल की इस यातना को बड़े दार्शनिक अंदाज में शाश्वत बनाकर समूची मानवीय नियति का सवाल बनाकर पेश करता है।

सरकार युवा क्रांतिकारियों को नक्सलवादी घोषित करके फांसी की सज़ा तक देने से नहीं चुकते थे। नक्सलवादियों के प्रति सरकार ने जो अमानवीय अत्याचार की है इसकी ओर भी उपन्यासकार प्रकाश डालता है। आंध्र की लड़की जिसकी बड़ी-बड़ी आँखों से संघर्ष की चमक आती दिखाई देती थी, अपने तीन साथियों को दी जाने वाली फांसी के विरोध में उसके हस्ताक्षर लेने आई थी। जिन्हें सरकार ने नक्सलवादी घोषित करके फांसी की सजा सुनाई थी। उन युवकों की यातना और उनके लिए उस लड़की का संघर्ष एक ठोस और मूर्त संदर्भ है, जबकि दयाल, अनूप भाई और स्वयं रिशी की भूमिका अंत तक स्पष्ट नहीं हो पाती कि आपातकाल में इन लोगों ने ऐसा क्या किया है जिसके कारण एक अभेद्य आतंक उपन्यास के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला और पसरा पड़ा है।

निर्मल वर्मा 'रात का रिपोर्टर' में कदाचित पहली बार निकट अतीत के एक ऐसे कालखंड को अपनी रचना के केंद्र में रखकर सामने आये हैं जो अपनी निरंकुशता और मानवीय यातना में ऐतिहासिक है। पर यहाँ भी वे राही मासूम रजा के 'कटरा बी आर्जू' की भाँति, भले ही एक प्रतिदर्शात्मक पद्धति से, मानवीय यातना के सघन और वास्तविक चित्रण में कोई रुचि नहीं दिखाने पर वे

---

1. निर्मल वर्मा रात का रिपोर्टर - पृ. 123

उस काल विशेष के कल्पित आतंक तक अपने को सीमित रखते हैं.। 'रात का रिपोर्टर' में न तो कहीं रिशी की कोई सामाजिक या राजनीतिक भूमिका है और न ही उसकी वैसी कोई पृष्ठभूमि है जिसके कारण उसे इस प्रकार असुरक्षित और आतंकित दिखाया जाय। नागार्जुन से लेकर स्नेहलता रेड्डी तक सैकडों लेखकों-कलाकारों और पत्रकारों ने उस यातना को अपनी त्वचा पर झेला था और अनेक लोग कभी उस अंधेरे से बाहर नहीं आ सके। रिशी, दयाल और अनूप भाई किसी की ऐसी कोई राजनीतिक पृष्ठभूमि उपन्यास में नहीं है जिससे इस आतंक, असुरक्षा और यातना को अंकित कालखंड की वास्तविकता से जोडकर देखा जा सके। वास्तव में निर्मल वर्मा ने 'रात का रिपोर्टर' को एक बुद्धिजीवी की चेतना पर पड़नेवाले युगीन दबावों को रेखांकित करनेवाली कृति कहा है जिन्हें वह उसके व्यवहार में घटित होता दिखाता है। यहाँ उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि व्यवस्था और व्यक्ति के बीच का संघर्ष किस प्रकार जीवन को आतंकित करता है, मृत्यु का एहसास कराता है। व्यवस्था और व्यक्ति की स्वतंत्रता का परस्पर विरोध और तनाव आज के युग की मूल समस्या है। इनके पारस्परिक संबंधों के बिगडने पर ही आपात्कालीन स्थिति का आविर्भाव होता है।

समय शब्द भर नहीं है

धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास है 'समय शब्द भर नहीं है'। इसमें उपन्यासकार ने आज की युवा पीढी में उभरे नक्सलवादी आन्दोलन और सत्ता के अंधेपन को दिखलाया है। कथानायक है भुवन किशोर। उसके बचपन का नाम था टेकचन्द। उसे इस नाम से उतनी ही नफरत थी जितनी खद्दरधारी कांग्रेसी को लेकर। इसलिए उसने अपना नाम रख लिया है भुवन किशोर। बी.ए. करने के

बाद अपने विचारों तथा घर वालों से मेल न खा पाने के कारण वह सुविधा सम्पन्न घर छोडकर हमेशा केलिए चला जाता है। वह तब भी नहीं लौटा जब उसके पिता को किसी नक्सलवादी ने निर्ममता के साथ खत्म कर देता है। उसको अपने परिवार के प्रति इतना आक्रोश था कि उसके पिता के हत्यारों के प्रति-प्रतिहिंसा का भाव तक नहीं उभरा। उन्होंने अपने एक नक्सली दोस्त को गिरफ्तार करवाया और उसके साथ जेल में ऐसा अमानवीय व्यवहार और अत्याचार किया कि वह वहाँ मर जाता है। घर छोड़कर वह देश की राजधानी गया और वहाँ नक्सली आन्दोलन में शामिल हो गया। पाँच महीने तक नौकरी की। इसके बाद निकाल दिया गया। इसी बीच में हिन्दी और दर्शन में एम.ए. किया। इन दिनों में फुटपाथ की जिन्दगी के साथ उसका नज़दीकी रिश्ता कायम हो गया। मेरठ रहा, फिर अध्यापक बना। तदुपरांत वह कलकत्ता चला जाता है। राजधानी के लाल किले पर लाल झंडा लहराने की तमन्ना रखने वाले नक्सलवादी, क्रान्तिकारियों का केन्द्र स्थल था वह, "उनका अपना केन्द्र स्थल था कलकत्ता। राजधानी के लाल किले पर लाल झण्डा लहराने की तमन्ना रखने वाले नक्सलवादी का केन्द्र स्थल था।"[1] वहाँ पर एक साप्ताहिक में सहायक सम्पादक की पोस्ट पर नियुक्त हो गया। धीरे धीरे भुवन एक प्रतिष्ठित लेखक बन जाता है। वह अपने तीसवें साल और सताईसवें शहर नैनिताल आ जाता है। वहाँ आकर वह अपने अन्य नक्सलवादी दोस्त आशु, संध्या के साथ पुनः इस आन्दोलन से जुड़ जाता है।

उपन्यासकार देश की राजनीतिक स्थिति, नक्सलवादियों के आन्दोलन और किसानों का सरकार के विरुद्ध विद्रोह आदि में मार्क्सवादी चिन्तन से

---

1. धीरेन्द्र अस्थाना, समय एक शब्द भर नहीं है। पृ. 17

प्रभावित नज़र आता है। नक्सलवादियों को सरकार जेलों में ठूँस रही थी, उनके साथ अमानवीय अत्याचार किये जा रहे थे। उनकी पिटाई इतनी अधिक की जाती थी कि उनके लिए जिन्दा रहना नामुमकिन सा हो गया था। जनता के मन में क्रांतिकारी विचारधारा जगाने की आशा और तमन्ना युवा क्रांतिकारियों में थी। आशु शालीनता और आत्म-विश्वास के साथ अपना व पार्टी का उद्देश्य बताते हुए भुवन से कहते है कि "जीते हुए क्रांति नहीं होती, क्रांति केलिए विचारधारा का जन्म होता है। जिसके पास खाने केलिए कुछ नहीं है उसी सर्वहारा के द्वारा लाई जाने वाली क्रांति अराजकता में न बदल जाये, इसी बात के लिए क्रांति की रणनीति है और यह रणनीति सही विचारधारा के अन्तर्गत ही सफलता प्राप्त कर सकती है। मुफालिसी, बदहाली और दमन-शोषण के शिकार करोड़-करोड़ों लोगों की खुशहाली के लिए क्रांति ही एक मात्र विकल्प है और इस क्रांति को सही ठिकाने पर पहुँचाने केलिए जिस शख्स ने सही विचारधारा दुनिया को दी, सौंपी उसके नाम से तुम वाकिफ हो कार्ल मार्क्स। मार्क्सवाद एक शब्द भर नहीं है, जैसे नक्सलवादी एक गाँव भर नहीं है।"[1]

उपन्यासकार ने नक्सली आन्दोलन की भावना से प्रेरणा पाकर ही इस उपन्यास की रचना की है। यहाँ लेखक ने नक्सली आन्दोलन के कारणों व मूल स्रोत को ढूंढने का प्रयास किया है। इसमें लेखक ने एक निश्चित विचार धारा को समर्थन प्रदान किया है। लेखक ने नक्सली आन्दोलन को जन समुदाय की सहानुभूति दिलाने का प्रयास किया है।

---

1. धीरेन्द्र अस्थाना, समय एक शब्द भर नहीं है। पृ. 24.

इस प्रकार इस अध्याय में आपातकाल से जुडे उन उपन्यासों का अध्ययन किया है जिन में तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त अंधकार की भीषणता का सच्चा रूप प्रस्तुत किया गया है। इन उपन्यासों में रचनाकारों ने मानव जीवन पर छाए हुए आतंक की स्थिति को देश की राजनैतिक विरासत के संदर्भ में देखने-परखने का कार्य किया है।

....🕮....

चौथा अध्याय

नारी मुक्ति आन्दोलन और राजनीतिक चेतना

चौथा अध्याय

नारी मुक्ति आन्दोलन और राजनीतिक चेतना

नारी मुक्ति आन्दोलन नारी जागरण का परिणाम है। नारी आज अपनी हैसियत से काफी सचेत है। उसने अनुभव किया कि उसके चारों तरफ शोषण का जाल बिछा हुआ है। पुराने ज़माने की स्त्री इससे अवगत नहीं थी क्यों कि वह अशिक्षित थी। स्वतंत्रता के पश्चात् महानगरों की पढी लिखी स्त्रियाँ घर की चौखट को लांघकर बाहर आ गयीं। रज़िया बीगम, चाँद बीबी, अहिल्या बाई, नूर जहाँ, जैसी महिलाओं ने बहुत पहले ही देश की सेवा में अपनी सक्रिय उपस्थिति जता दी थी। उन्होंने उस समय की राजनीतिक अनिवार्यता को पहचानकर उसमें भाग लिया था। भारत की स्वतंत्रता में रानी लक्ष्मी बाई का योगदान भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। राष्ट्रीय आंदोलनों में प्रदर्शनों, जूलूसों आदि में भाग लेने के साथ वे पुलिस की गोलियाँ और लाठियाँ सहने में भी आगे रहीं। उनके सामने देश ही प्रमुख रहा। राष्ट्रीयता उनका लक्ष्य रहा। देश की मुक्ति संघर्ष में अपने को कुरबान करना वे अपने जीवन की सार्थकता मानती थीं। इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्व युग में जो नारी जागरण हुआ वह देश रक्षा की विशाल मानसिकता को लेकर था। पर स्वाधीनता परवर्ती समकालीन सन्दर्भ में जो नारी जागरण हुआ है उसमें वैसी विशाल मानसिकता नहीं बल्कि संपूर्ण नारी समुदाय को लक्ष्य करके उसका उदय हुआ है। इसके पीछे राष्ट्रीय या राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं। यह शिक्षित नारी की अस्मिता की पहचान का परिणाम है। स्वतंत्र भारत में नारी राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं

परिवार में, दफ्तर में सब कहीं शोषित है। इसकी पहचान से वह संघर्षरत हो उठती है। वह शोषण मुक्त जीवन की कामना करती है और महसूस करती है कि वह उसका अधिकार है। इसकेलिए वह लडती है। परम्परा का निषेध करती है। बन्धनों को तोडती है। रूढियों को नकारती है। इस प्रकार नारी का एक नया रूप उभर आया है समकालीन सन्दर्भ में। समकालीन उपन्यासकारों ने नारी के इस बदलते स्वरूप को रचना का विषय बनाया है।

नारी मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ

जैसे किसानों की हालत को सुधारने केलिए सबसे पहले किसान सभाएँ किसानों के मालिक जमींदारों ने बनाई थीं, उसी तरह स्त्रियों की दशा सुधारने की पहली कोशिश उनके मालिक पुरुषों ने कीं। यह कोशिश 19 वीं सदी के आरम्भ में तब शुरू हुई जब बंगाल के राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के खिलाफ बिगुल बजाया और स्त्रियों को शिक्षा और सम्पत्ति में हक देने की सिफारिश की। इसके बाद 19 वीं सदी के आखिर तक पुरुष सुधारकों की एक पूरी परम्परा मिलती है जिन्होंने स्त्रियों की दशा में सुधार लाने का आन्दोलन चलाया। उन्होंने परदे और बाल-विवाह की प्रथा का विरोध किया। स्त्री-शिक्षा और विधवा विवाह का समर्थन किया। पुरुषों द्वारा नियंत्रित-संचालित यह आन्दोलन आज के स्त्री-आन्दोलन से मौलिक भिन्नता रखता है। सबसे बुनियादी फर्क यह है कि पुरुष सुधारक समाज के पितृसत्तात्मक ढाँचे का मतलब सिर्फ परिवार में पुरुष का मुखिया होना ही नहीं मानता बल्कि समाज के सभी पक्षों पर जैसे आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक, धार्मिक तथा विचारधाराओं पर अपना वर्चस्व मानता है। वे इस ढाँचे पर सवाल खडा किए बिना ही स्त्रियों की दशा में कुछ सुधार लाना चाहते थे। उस ज़माने में इसे स्त्रियोद्धार का आन्दोलन कहा करता था। क्यों कि उद्धार

तो हमेशा कोई बाहर से करता है । जबकि आज की स्त्रियों की दृष्टि में सवाल उनके अधिकारों का था, न कि उद्धार का। सदियों से दबाकर रखी गई स्त्रियों को उस समय अपने अधिकारों की चेतना बहुत कम थी। लिहाज़ा पुरुष ही उन्हें उस गढहे में से निकालने लगे जिसमें उन्होंने ही उन्हें धकेल कर रखा था। पुरुष प्रधान सामाजिक ढाँचे के अन्दर पत्नी, माँ, बहन या बेटी के रूप में स्त्रियों की दशा को कुछ हद तक सुधारने की कोशिश की गई। इसका कारण यह नहीं था कि पुरुषों का दृष्टिकोण अचानक उदार हो गया हो। इसके मूल में कुछ बदली हुई आर्थिक - सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। कलकत्ता, पूणे बम्बई जैसे बडे शहरों में अँग्रेज़ी राज के परिणामस्वरूप एक नया शिक्षित मध्यवर्ग उभरा था जिसकी ज़रूरतों से पुरानी संयुक्त परिवार वाली सामन्ती व्यवस्था और संस्कृति मेल नहीं खाती थी। नए शिक्षित मध्यवर्ग की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति के मुताबिक घरेलु स्त्रियों के पिछडेपन और शोषण के कुछ भद्दे और भयानक रुपों को धो-पोंछ डालने की जरूरत थी। बडे शहरों में उभरे इस नए वर्ग में अब परिवार आर्थिक उत्पादन की इकाई नहीं रहा। इसलिए इसे बडे कुटुम्बों की ज़रूरत नहीं थी। पश्चिमी शिक्षा और मूल्यों के सम्पर्क में आए इस वर्ग के शिक्षित सदस्यों के लिए अब परिवार एक भावनात्मक ज़रूरत बनने लगा जिसमें स्त्री से कुछ मानसिक आदान-प्रदान की भी गुंजाइश बनी। इसके लिए स्त्रियों को शिक्षित बनाना ज़रूरी था, उनकी दशा को सुधारना आवश्यक था। यही कारण है कि 19 वीं सदी के पुरुष सुधारकों का स्त्री-आन्दोलन कभी भी कस्बों या छोटे शहरों तक नहीं फैला, वह सिर्फ कुछ बडे शहरों तक सीमित रहा।

प्रथम स्त्री आन्दोलन एवं प्रारंभिक स्त्री संगठन

प्रथम विश्वयुद्ध के आस-पास हिन्दी प्रदेश में जो स्त्री आन्दोलन हुआ वह 19 वीं सदी के समाज सुधारकों के स्त्री-आन्दोलन से कई मामलों में भिन्न था।

इसकी पहली विशेषता स्त्रियों द्वारा स्त्रियों के आन्दोलन को चलाना था। यहाँ स्त्रियों के सवालों को पुरुषों की नज़र से नहीं, स्त्रियों की नज़र से उठाता था। इसकी दूसरी विशेषता स्त्रियों के अपने संगठनों को बनाना था। इस आन्दोलन में शामिल स्त्रियों ने अपने लेखन में पुरुषों की स्वार्थपरता, विशेषाधिकारों की माँग, स्त्रियों के प्रति उनकी तिरस्कारपूर्ण दृष्टि, स्त्रियों पर अत्याचार और उस पर शासन करने की प्रवृत्ति आदि पर कटु आलोचना की जो 19 वीं सदी के पुरुष सुधारकों के स्त्री-आन्दोलन में नहीं मिलती। फिर भी यह स्त्री आन्दोलन आज के नारीवाद से, जो न सिर्फ एक आन्दोलन है, बल्कि जिसे एक विचारधारा भी बतलाया जाता है, बुनियादी तौर पर भिन्न था। दिलचस्प बात यह है कि आज के नारीवाद की कुछ विशेषताएँ और लक्षण उस वक्त के स्त्री आन्दोलन में पनपती दिखाई देती हैं। भारत में स्त्री आन्दोलन की असली शुरुआत 19 वीं सदी के आखिरी दशकों में हुई जब पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानडे, आनन्दोबाई जोशी, फ्रानना सरोबजी, एनी जगन्नाथन और रुक्मा बाई जैसी औरतें अपने घरों में पुरुष प्रधान समाज द्वारा थोपे बन्धनों को तोडकर ऊँची शिक्षा केलिए विदेश गई और लौटकर उन्होंने भारत में स्त्रियों के आन्दोलन को आगे बढाया। पहली बार स्त्रियों ने स्त्रियों के स्वतन्त्र संगठन कायम किए।

1886 में स्वर्णकुमारी देवी ने 'लेडीज़ एसोसिएशन' कायम की। 1892 में पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों की शिक्षा और रोज़गार केलिए पूना में 'शारदा सदन' खोला। 1902 में रमाबाई रानाडे ने 'हिन्दू लेडीज सोशल एण्ड लिट्ररेरी क्लब' और 1909 में पूना में 'सेवा सदन' खोले। इसी समय बम्बई से 'स्त्री बोध' पत्रिका निकलनी शुरू हुई। 1901 में मद्रास से भी भारतीय महिलाओं की पत्रिका निकलने लगी। कलकत्ते में 1905 में सुमति देवी ने 'महिला समिति' बनाई। 1908 में अहमदाबाद में 'गुजराती स्त्री मण्डल' और 1913 में मैसूर में 'महिला सेवा समाज'

बना। 1916 में पूना में 'भगिनी समाज' कायम हुआ जो स्त्री-आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण संगठन था। 1914 में एनी बेसेन्ट काज़िन के साथ मिलकर स्त्रियों का पहला अखिल भारतीय संगठन 'वुमेन्स इण्डिया एसोसिएशन' 1917 में स्थापित किया, हालाँकि इसकी ज्यादातर शाखाएँ मद्रास प्रेसिडेंसी में ही थीं और कुछ एक उसके बाहर। यह संगठन स्त्रियों के अधिकारों की माँग करने और राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी बढाने के उद्देश्य से बनाया गया था। इस संगठन ने 'स्त्रीधर्म' नामक पत्रिका भी निकाली। 1925 में ' नेशनल काउँसिल ऑफ वूमेन इन इण्डिया ' के नाम से एक और अखिल भारतीय स्त्री संगठन बनाने की कोशिश हुई। 1926 में मद्रास के 'वुमेन्स इण्डिया एसोसिएशन' ने देश भर में बिखरे हुए विभिन्न स्त्री संगठनों का एक बडा सम्मेलन बुलाया जिसमें कई स्त्री-संगठनों ने मिलकर 'ऑल इण्डिया वुमेन्स कान्फेरेन्स' के नाम से एक अखिल भारतीय स्त्री-संगठन शुरू किया। इस तरह साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के विकास की प्रक्रिया में मज़दूरों और किसानों की ही तरह स्त्रियों के भी अपने जन-संगठनों का विकास हुआ।

हिन्दी प्रदेश में स्त्री - आन्दोलन

हिन्दी प्रदेश में 19 वीं सदी तक स्त्री आन्दोलन का कोई पता नहीं मिलता। कहा जाता है कि 1874 ई. में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्त्री-शिक्षा केलिए एक पत्रिका 'बाला बोधिनी' निकाली थी। लेकिन इस पत्रिका के बारे में और कोई जानकारी नहीं मिलती। गौरीदत्त के उपन्यास 'देवरानी-जेठानी' की कहानी (1970) और श्रद्धाराम फिल्लोरी की 'भाग्यवति' (1977) से स्त्रियों को शिक्षित करने केलिए पुरुष समाज-सुधारकों के उत्साह का पता चलता है। लेकिन इन सबसे स्त्री-आन्दोलन का कोई सिलसिला नहीं चला। 20 वीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेश में स्त्री -जागृति की लहर फैलने

लगी। इस लहर का रिश्ता 19 वीं सदी के पुरुष सुधारकों के प्रचार से न होकर 19 वीं सदी के आखिरी दशकों में खुद स्त्रियों के नेतृत्व हुए स्त्री-आन्दोलन से था। 1909 ई में इलाहाबाद में पहली बार रामेश्वरी नेहरू ने 'प्रयाग महिला समिति' का गठन किया और इसी के साथ एक गम्भीर पत्रिका 'स्त्री-दर्पण' निकालना शुरु किया। इस पत्रिका का एक अन्तरंग भाग 'कुमारी दर्पण' नाम से छपता था जिसकी सम्पादिका रूप कुमारी नेहरु थीं।

स्त्री दर्पण हिन्दी प्रदेश में स्त्री -आन्दोलन की सबसे प्रमुख पत्रिका बनी। स्त्रियों की समस्याओं को एक आन्दोलनकारी ढंग से इतनी गम्भीरता और गहराई से उठाने वाली पत्रिका उस समय कोई दूसरी न थी। पहले विश्वयुद्ध के दौर में और उसके बाद हिन्दी में किसान-साहित्य की ही तरह स्त्री-साहित्य की भी काफी रचना हुई। स्त्रियों के सवालों को उठाया गया। खुद स्त्रियों ने आगे बढकर अपनी समस्याओं पर बहस चलाई और साहित्य लिखा। पूरे हिन्दी प्रदेश के स्तर पर तो नहीं स्थानीय स्तर पर कुछ स्त्री-संगठन भी बने। स्त्रियों से सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यों के प्रकाशन का सिलसिला शुरू हो गया। स्त्री दर्पण के अलावा उस वक्त हिन्दी में स्त्रियों से सम्बन्धित दूसरी महत्वपूर्ण पत्रिका थी 'गृहलक्ष्मी'। 'स्त्री दर्पण' में जिन सवालों को लेकर बहस चलाती थी उसकी गूँज 'गृहलक्ष्मी' में भी सुनाई पडती थी। कई बार बहसें दोनों पत्रिकाएँ मिलकर चलती थीं। एक पत्रिका में छपे लेख का जवाब दूसरी पत्रिका में दिया जाता था। स्त्रियों से सम्बन्धित तीसरी पत्रिका 'आर्य महिला' बनारस से छपती थी। उस ज़माने में स्त्री के अधिकारों केलिए जैसे पश्चिम से समर्थन जुटाया जाता था वैसे ही भारत के अतीत से भी । सनातन धर्म महामण्डल की पत्रिका आर्य महिला वैदिक आदर्शों के आधार पर स्त्री को शिक्षित करने और प्रतिष्ठा दिलाने वाले पक्ष की पत्रिका थी। इस प्रकार बहुत सारी पत्रिकाओं ने नारी आन्दोलन को प्रेरणा दिलाने में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। स्त्रियों के सवालों पर स्त्रियों द्वारा साहित्य रचना उस युग की विशेषता थी। स्त्री-दर्पण के पृष्ठों पर स्त्री शिक्षा, परदा प्रथा और पुरुषों के हाथों स्त्रियों के अपमान और अत्याचार पर स्त्रियों की लिखी कई कहानियाँ और कविताएँ छप रही थीं। 1918 में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ। उसमें जिन विषयों पर निबन्ध पढने केलिए माँगे गये थे उनमें से एक विषय था हिन्दी भाषा में स्त्रियों के योग्य साहित्य। गांधी जी इस सम्मेलन के सभापति थे। उठते हुए नारी आन्दोलन की लहर में पहली बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन में सात सौ स्त्रियों ने भाग लिया। सम्मेलन में श्रीमति गंगाबाई, श्रीमति हेमंत कुमारी चौधरानी, पंडिता मनोरमा बाई, श्रीमति रुणुबाई और श्रीमति मगन बाई ने स्त्रियों की शिक्षा तथा दूसरे सवालों पर भाषण दिया।

स्त्री शिक्षा

स्त्री शिक्षा नारी आन्दोलन का सबसे प्रधान मुद्दा था। 1917-20 के बीच स्त्री-दर्पण में इस पर कई लेख निकले। बदलते हुए सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ में शिक्षित पुरुष और अशिक्षित स्त्री के बिच की खाई ने सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे में संकट पैदा कर दिया था। सामाजिक और पारिवारिक ढाँचा ऐसा था (और अब भी ऐसा है) कि आने वाला हर परिवर्तन पुरुषों को तो सहज और स्वाभाविक रूप से प्रभावित कर लेता था पर पुरष स्वयं हिमालय पर्वत बनकर परिवर्तन की इन हवाओं से अपने घर की स्त्रियों को बचाने की कोशिश करते थे। इसके मूल में तो परिवार और समाज में स्त्री और पुरुष की अलग-अलग भूमिका की मान्यता काम करती थी। पर बदलती हुई सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में यह अलगाव एक अन्तर्विरोध में बदलता गया। शिक्षित पुरुष अपनी अशिक्षित स्त्रियों के साथ किए जाने वाले तिरस्कार और अपमान का व्यवहार उसके जीवन का एक और अध्याय बन गया। इसके चित्र उस समय के हिन्दी साहित्य में भरे पडे हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी स्त्री-शिक्षा का सवाल खडा कर दिया था। स्त्रियों ने अपने ऊपर होने वाले अत्याचार और अपमान का एक बडा कारण स्त्री-शिक्षा की कमी को ही माना। स्त्री-शिक्षा के लिए उन्होंने बाल विवाह और पर्दे की प्रथा का विरोध किया। क्योंकि ये दोनों प्रथाएँ स्त्री-शिक्षा की राह की रुकावटें थीं। 1917 के आसपास हिन्दी प्रदेश में बहस यह नहीं थी कि स्त्री को शिक्षा दी जाए या नहीं। यह लडाई तो जीती जा चुकी थी और इस सवाल पर हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में पुरुष नेता खुलकर स्त्रियों के साथ थे। बहस अब यह थी कि स्त्रियों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए ? सिर्फ व्यावहारिक या व्यापक? सिर्फ घरेलू या सामाजिक-राजनीतिक भी? पूर्वी या पश्चिमी? स्त्री दर्पण पत्रिका स्त्रियों केलिए राष्ट्रीय आन्दोलनों की ज़रूरतों से मेल खाने वाली सामाजिक-राजनीतिक शिक्षा की वकालत करती थी। यह सवाल असल में परिवार या समाज में स्त्रियों की भूमिका से जुडा हुआ था। यानी यह सवाल सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र का नहीं था बल्कि स्त्रियों के प्रति सामाजिक मान्यता और दृष्टिकोण का था। उस समय के स्त्री आन्दोलन ने इस तथ्य को समझा और उसने स्त्री-शिक्षा के सवाल को स्त्री-मुक्ति के सवाल के साथ जोड दिया। इस तरह स्त्री शिक्षा अब स्त्री-पुरुष के बीच एक नया शक्तिसन्तुलन कायम करने के साधन के रूप में देखी जाने लगी। स्त्री को अशिक्षित रखने का तर्क पुरुष जाति की स्वार्थी मानसिकता के रूप में देखा जाने लगा।

स्त्री आन्दोलन के मुख्य आधार

हिन्दी प्रदेश में उभरे स्त्री-आन्दोलन मुख्यतः तीन मुद्दों पर ज़ोर देता रहा। एक मुद्दा तो इतिहास और पुराण का था। नारी की स्वतन्त्रता के पक्ष में हिन्दु पुराणों और इतिहास से समर्थन जुटाते हुए रामेश्वरी नेहरू ने कहा :" सीता, सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला पर्दे में रहने वाली स्त्रियाँ नहीं थीं। रणभूमि पर देश केलिए जान देकर लडने

वाली राजपूत स्त्रियाँ भी पर्दे में रहने वाली स्त्रियाँ नहीं थी।"[1] ज्यादातर स्त्रियाँ अपने आन्दोलन के समर्थन में ऐसे तर्क जुटाती थीं। स्त्री-आन्दोलन के समर्थन का दूसरा आधार यूरोप का स्त्री-आन्दोलन था। यूरोप में 1905 से स्त्रियाँ अपने राजनीतिक आधारों की माँग का आन्दोलन चला रही थी। समाज में स्त्रियों की भूमिका क्या हो, इस सवाल पर चलने वाली अन्तहीन बहस का निपटारा विश्वयुद्ध में यूरोपीय स्त्रियों द्वारा निभायी गई भूमिका ने कर दिया। जब यूरोपीय देशों में सभी जवान मर्द लडाई के मोर्चे पर चले गए तो देश के अन्दर के हर मोर्चे की ज़िम्मेदारी स्त्रियों ने सम्भाली। नतीजा यह निकला कि युद्ध खत्म होते होते इंग्लैंड की सरकार को स्त्री-आन्दोलन की माँगों के आगे झुकना पडा। हिन्दी प्रदेश की शिक्षित मध्यवर्गीय खासकर उच्च मध्यवर्गीय स्त्रियों ने यूरोपीय स्त्रियों की भूमिका और उनकी जीत का सन्देश हिन्दी प्रदेश में फैलाया। स्त्री आन्दोलन के समर्थन का तीसरा आधार स्वराज्य का राष्ट्रीय आन्दोलन था। भारत में स्त्री-आन्दोलन की लहर को सबसे ज्यादा बढाया राष्ट्रीय आन्दोलन ने। इसमें सवाल उठाया कि जब स्त्री हर दृष्टि से पुरुष के समान है तो उसकी भागीदारी के बिना सच्चा स्वराज्य कैसे कायम हो सकता है ? होमरूल आन्दोलन की एक प्रमुख नेत्री ऐनीबेसेंट स्वराज्य के आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी की प्रतीक बन गयी थी। पुरुष नेताओं से यह सवाल पूछा गया कि वे अपने स्वराज्य की माँग में स्त्रियों केलिए कौन-सी माँगें उठा रहे हैं ? क्या वे शासन में स्त्री की भागीदारी कबूल करते हैं ? जिस तरह आज पश्चिमी यूरोप के समाजवादी आन्दोलन में स्त्रियाँ प्रारूप-आन्दोलन (प्री-फिगरेटिव मूवमेंट) की माँग कर रही हैं ठीक इसी तरह 1917-18 में हिन्दी प्रदेश के स्त्री आन्दोलन में माँग की गई कि स्वराज्य आने

---

1. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य-कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ पृ. 139

पर स्त्रियों को पुरुष के अधिकार मिलेंगे उनका प्रारूप या उनकी झलक स्वराज्य केलिए हो रहे आन्दोलन में दिखनी चाहिए। लेकिन सच्चाई तो कुछ और ही रहा। श्रीमति उमा नेहरु ने कहा "हमारा भारतीय समाज स्त्री जाति केलिए प्रोक्रस्तस का एक निर्दय पलंग है।"[1]

गांधीजी और स्त्री आन्दोलन

यूरोप में बैरिस्टरी की ऊँची शिक्षा पाकर भी गांधीजी भारतीय स्त्रियों की दशा में सुधार लाने और उनके लिए सीता, द्रौपदी और दमयंती के आदर्श को मानने के पक्षपाती थे। यह बात उस ज़माने की निम्न और साधारण मध्यवर्ग की स्त्रियों को बहुत अच्छी लगती थी। एक बार गांधी जी ने अपने भाषण में यूरोपीय सन्दर्भ में स्त्री-आन्दोलन को देखने वाली उच्चवर्गीय स्त्रियों के नारीवाद पर हमला किया। स्त्री आन्दोलन को आगे बढाने केलिए गांधी ने देश की 85 प्रतिशत स्त्रियों की जीवन-दशा और उनके विचोरों पर ध्यान देने को कहा। उन्होंने कहा "आजकल का सारा आन्दोलन गिनती में बहुत थोडे से लोगों की सीमा के अन्दर बँधा हुआ है। यदि भगिनी समाज में मेरी बहनें उन सैकडों पच्चासी मनुष्यों के जीवनों में ध्यान देकर खोज करेंगी तो उनको अपने समाज में काम करने का ढंग निकालने केलिए बहुत अच्छे मसाले मिल सकेंगे। समाज के नियम पुरुषों ने बनाए हैं, उनमें कुछ दोष भी है। उन्हें दूर करने केलिए हम सब को ऐसी स्त्रियाँ बनानी होंगी जो सीता, दमयंती, द्रौपदी के समान पवित्र दृढ और आत्म-बलदानी हों, यदि हम ऐसी स्त्रियों को उपजा सकें तो उन वर्तमान काल की सतियों को भी हिन्दु समाज से ही सम्मान मिलने लगेगा जैसे कि उनके प्राचीन काल के आदर्शों को मिलता था।"[1] गांधी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि स्त्री-पुरुष बराबर

---

1. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य-कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ पृ. 144
2. वही पृ. 146,147

हैं। स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वाधीनता पाने और ऊँचे से ऊँचे पद पर पहुँचने का अधिकार है। शिक्षित नहीं होने पर स्त्रियों को यह अधिकार नहीं मिल सकता यह दृष्टिकोण अन्यायपूर्ण है। शिक्षा से ज्यादा ज़रूरी बात अपनी स्थिति की चेतना है। स्त्री पढी-लिखी न होने के कारण पुरुष उसको अपने बराबर न मानना ज्यादती है। इस तरह गांधी जी ने स्त्रियों के सवाल पर समझौतावादी रवैया अपनाया। उन्होंने बहुत-सी दकियानूसी बातों का समर्थन किया पर साथ ही स्त्रियों के अधिकारों का एक हद तक खुला समर्थन भी। इस समर्थन की खास बात यह थी कि इसमें पुरुषों के प्रति विरोध नहीं था। इस तरह गांधी जी ने नारी आन्दोलन का समर्थन नारीवादी दृष्टिकोण से नहीं किया बल्कि स्वराज्य के राष्ट्रीय आन्दोलन की ज़रूरतों की दृष्टि से किया।

नारी की हैसियत और उपन्यास

जहाँ 1870-79 के दशक में केवल तीन उपन्यास प्रकाशित हुए थे। लेकिन 1991-2000 में तीन सौ से अधिक उपन्यास प्रकाशित हुए है। 1870-79 के दशक में लिखित तीनों ही उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवति'- नारी विमर्श से जुडे हुए थे। कुछ लोगों को कदाचित् नारी विमर्श शब्द उक्त रचनाओं के लिए भारी लग सकते हैं। पर जिस ज़माने में स्त्रियों की साक्षरता 0.5 प्रतिशत से भी कम थी और पूरा का पूरा स्त्री समाज परम्परागत नारी-संहिता से ज़कडा हुआ था उस ज़माने में कथा के माध्यम से सीमित मात्रा में ही सही उनके हित में बोलना कोई मामूली बात नहीं थी। यह सीमित हल्का स्त्री विमर्श बीसवीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों में बहुआयामी और प्रौढ बन गया है। नारी को स्वतंत्र करने की मानसिकता को लेकर बहुत सारे उपन्यास लिखे गये हैं। भारतेन्दु युग से लेकर इसकी परंपरा शुरू होती है। प्रेमचन्द, निराला जैसी प्रतिभाओं ने भी इस

दिशा में ईमानदारी से काम किया है। लेकिन नारी मुक्ति आन्दोलन से जुडी लेखिकाएँ इन रचनाओं को मानने केलिए तैयार नहीं। उनका मानना है कि पुरुष सत्तात्मक समाज की नीतियाँ नारी के खिलाफ हैं। पुरुषों की मानसिकता समता की नहीं। इसलिए पुरुषों की स्त्री विषयक रचना में अनुभव की तीव्रता नहीं, ईमान्दारी नहीं, बल्कि स्त्रियों के साथ सहानुभूति मात्र है। इसलिए इनकी रचनाओं को तथा उसकी मानसिकता को स्वीकार करने केलिए वे तैयार नहीं। स्त्री उपन्यासकारों ने इसलिए अपने निजी अनुभव क्षेत्र को अनावृत करते हुए स्त्री विषयक नई मानसिकता को प्रश्रय दिया।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा-साहित्य में महिला लेखकों की असाधारण रूप से बढी हुई सक्रियता वास्तव में समाज में स्त्री की परिवर्तित स्थिति की ओर संकेत करती है। प्रारंभिक दशक के सभी उपन्यास लेखक पुरुष थे और उनमें अपने युग की सीमाओं के बावजूद स्त्री के प्रति गहरी सहानुभूति थी। स्त्री के प्रति यह सहानुभूति सदी के अंतिम दशक के पुरुष उपन्यासकारों में भी विद्यमान है। इस दशक के जो भी उल्लेखनीय पुरुष उपन्यासकार हैं और जिन्होंने नारी विमर्श को किंचित उल्लेखनीय रूप में उठाया है-कमलेश्वर का 'काली आँधी', गिरिराज किशोर का 'ढाई घर', विष्णु प्रभाकर का 'कोई तो' एवं 'अर्ध नारीश्वर' , भीष्म साहनी का 'कुन्तो'' तथा 'नीलू नीलिमा नीलोफर' सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए', श्रीलाल शुक्ल का 'बिश्रामपुर का सन्त' जैसे उपन्यासों में सदियों से पुरुष-शोषित नारी के प्रति गहरी सहानुभूति का भाव है। इनमें विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद और सुरेन्द्र वर्मा ने नारी -विमर्श को अपने उपन्यासों का केन्द्रीय विषय बनाया है। नारी-नियति की बहुआयामी त्रासदी 'कोई तो' और 'अर्धनारीश्वर' का केन्द्रीय कथ्य है। 'कोई तो' में एक मध्यवर्गीय कुँवारी लडकी की नियति का अंकन किया गया है। वह धर्म, जाति, यौन-शुचिता, पुरुष वर्चस्व, नपुंसक न्याय-व्यवस्था, पुरुष समाज की अनुदार एवं भोगवादी दृष्टि,

स्त्री की शारीरिक कमज़ोरी और साहसहीनता, गर्भ-धारण की विवशता आदि से नियंत्रित परम्परागत नारी-संहिता से परिचालित है। बलात्कार की समस्या भी 'कोई तो' में उठाई गयी है। पर इसका बडे पैमाने पर अंकन 'अर्ध नारीश्वर' में हुआ है। अर्ध नारीश्वर की केन्द्रीय पात्र सुमिता, विभा, वर्तिका, राजकली, श्यामला जैसे पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार ने बलात्कार- पीडित स्त्री की सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक समस्याओं तथा स्त्री पुरुष सम्बन्ध की जटिलताओं का अंकन परम्परागत संहिता से परिचालित नारी-नियति का विश्लेषण आदि प्रस्तुत किया है। इस सम्पूर्ण अंकन में उपन्यासकार की नारी के प्रति गहरी सहानुभूति ही नहीं, पूरी व्यवस्था के प्रति आक्रोश का भाव भी व्यक्त हुआ है।

भीष्म साहनी ने 'कुन्तो' में स्त्री की आत्मसजगता और आत्मनिर्भरता को रेखांकित करने का प्रयास किया है। लेकिन विजन के अभाव में उपन्यास सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ सका है। क्योंकि "भीष्म साहनी कुंतो में कुंतो की कहानी कहना चाहते हैं संपूर्ण नारी जाती की नियति को परिभाषित करना चाहते है या फिर अपने अतीत का विहंगावलोकन करना चाहते हैं- यह उपन्यास से बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता।"[1] 'नर और नारी' में श्री वैद ने परंपरागत नारी-संहिता को पूर्णतः ठुकराने वाली आधुनिक स्त्रियों की मानसिकता का अंकन किया है, जिसमें पुरुष स्त्री के लिए नर-सुअर मात्र है। उपन्यासकार सेक्स को ही स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का एकमात्र सच मानता प्रतीत होता है और स्त्री केलिए सेक्स की पूरी आज़ादी का समर्थक है। उपन्यासकार ने पात्रों के अन्तरालापों की सहायता से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि

---

1. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास - सार्थक की पहचान : कुंतो - गोल्डन मीन बनाम हार्दिकता और सहजज्ञान का दर्शन पृ. 264

आधुनिक महानगरीय समाज में पत्नियाँ विद्रोह की मुद्रा अपना लेती हैं। उपन्यास के सभी स्त्री-पुरुष किसी न किसी रूप में मुक्त काम-सम्बन्धों से जुडे हुए हैं।

'काली आंधी' में श्री कमलेश्वर ने यह उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है कि स्वतंत्रता से पहले भारतीय नारी के साथ एक बहुत ही प्राचीन मूल्य जुडा हुआ था, वह था पति की सेवा करना और बच्चों की देखभाल करना। यही सनातन काल से स्त्री का धर्म माना जाता था। स्वतंत्रता के बाद इस पर प्रहार किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप नारी घर से बाहर राजनीतिक क्षेत्र में आती है और विपरीत परिस्थितियों का सामना कर समाज में अपना स्थान बना लेती है। आधुनिक नारी की इसी गाथा को कमलेश्वर ने काली आंधी में चित्रित किया है। नारी के इस द्वन्द्व का लेखक ने मार्मिक चित्रण किया है। आज की भ्रष्ट राजनीति की ओर भी लेखक ने संकेत किया, "काली आंधी में आज की राजनीतिक क्षेत्र की नारी की विवशता, जो उसने इस क्षेत्र में प्राप्त की है, नारी को राजनीतिक क्षेत्र में सफलता केलिए किन परम्परागत नियमों को तोडना पडता है,पति और सन्तान से सम्बन्ध विच्छेद करने पडते हैं, आदि परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। "[1] यह उपन्यास नये परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करता है क्यों कि इसका कथानक देश की ऐसी समसामयिक राजनीति से प्रभावित है, जिसमें नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ और भ्रष्टाचार पनपा। राजनीति में चलने वाली उठक-पटक को पूरी जीवंतता के साथ काली आंधी के पात्रों के ज़रिए प्रस्तुत किया है।

'मुझे चाँद चाहिए' में भी एक मध्यवर्गीय लडकी की संघर्ष -कथा गहरी सहानुभूति, संजीदगी और कलात्मक संयम के साथ प्रस्तुत की गयी है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र वर्षा वशिष्ठ है। यह एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार की लडकी यशोदा

---

1. मधुरेश,. हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान पृ. 264

पांडेय के सिने-तारिका वर्षा वशिष्ठ तक की यात्रा के संघर्ष और विद्रोह का असाधारण उदाहरण है। नारी का सशक्तीकरण समकालीन नारी-विमर्श का प्रमुख मुद्दा है जिसके उदाहरण के रूप में वर्षा वशिष्ठ को रखा जा सकता है। उसका संघर्ष जितना बाहरी और व्यवस्था विरोधी है उतना ही निजी और आन्तरिक भी है। वह परम्परागत नारी संहिता को तो साहस के साथ नकारती है। अपने व्यक्तिगत प्रेम की निष्ठा को कायम रखने केलिए वह समाज से लडती है। अनब्याही माँ के दायित्व को वह बडे गर्व और साहस के साथ वहन करती है। इस प्रकार यशोदा पांडेय या सिलबिल का वर्षा वशिष्ठ में रूपांतरण मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री के उत्तर- आधुनिक स्त्री के रूप में कायान्तरण की विश्वसनीय कहानी है।

लेकिन इस दशक की विशेष उल्लेखनीय औपन्यासिक घटना यह है कि पुरुष उपन्यासकारों की सहानुभूति और संवेदना को अपर्याप्त समझ कर एक दर्जन से अधिक स्त्री उपन्यासकार साहित्य के मंच पर उतर आयीं। प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, नासीरा शर्मा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, चन्द्रकान्ता, अलका सरावगी, गीतांजली श्री, सूर्यबाला, कमल कुमार, उषा यादव, दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि ने नारी विमर्श को तो अपने उपन्यासों का प्रमुख मुद्दा बनाया है। उन्होंने अपने व्यापक अनुभव और संवेदना के तहत समकालीन तथा अतीत-कालीन यथार्थ को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। जिन लेखिकाओं ने तनिक आक्रामक तेवर में नारी विमर्श को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है उनमें प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग और चित्रा मुद्गल प्रमुख हैं।

साठोत्तर याने समकालीन संदर्भ में बहुत सारी स्त्री उपन्यासकार निकली हैं जिनकी रचनाओं में नारी अस्मिता को लेकर नई दृष्टि का पर्दाफाश हुआ है। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री पुर्णत : शोषित है। पुरुष स्त्री को समान अधिकार देने केलिए

तैयार भी नहीं । यद्यपि आधुनिक संन्दर्भ में बहुत सारी स्त्रियाँ राजनीति के क्षेत्र में भी अपने अलग अस्तित्व को प्रमाणित किया है तथापि अधिकतर स्त्रियों की उपेक्षा ही की जाती है और उन्हें विभिन्न प्रकार से शोषण का शिकार भी बना लिया जाता है। इसकेलिए सभी राजनीतिक पार्टियाँ एक जैसी हैं। वे अपने अपने ढंग से स्त्री का इस्तेमाल कर रही हैं। इन शोषणों के विभिन्न आयामों को प्रकाश में लानेवाले उपन्यास हैं मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' 'इदंनमम' और 'आल्मा कबूत्तरी', चित्रा मुद्गल का 'आँवा' रमणिका गुप्ता का 'सीता' आदि।

अल्मा कबूतरी

यह उपन्यास खानाबदोश कबूतरा जनजाति के जन जीवन को लेकर लिखी गई कथा है जिसके विस्तार में आज का पूरा राजनीतिक परिदृश्य भी दर्शनीय है। वास्तव में उपन्यास के केन्द्र में तो कबूतरा जनजाति के खानाबदोश है लेकिन इसे लेकर जो परिधि बनती है उसके भीतर आज के उत्तर भारतीय जन जीवन और राजनीति के यथार्थ का एक बडा हिस्सा समाहित है। यहां कहानी कदमबाई से शुरू होती है। कबूतरा जनजाति की खूबसूरत लडकी कदमबाई की अपने रिवाज़ों के अनुसार सयानी होते ही जंगलिया से विवाह कर दिया जाता है। कबूतरा खानाबदोश जनजाति की है जिनके गांव नहीं, डेरे होते हैं। पर खानाबदोशी धीरे धीरे छूट रही है। ये लोग एक ही जगह रहने के अभ्यस्त होने लगे हैं। इनके नाम मडरोरा खुर्द की वोटर लिस्ट में भी आ गए हैं। वोट की लोभ में बस्ती के मंसाराम इन लोगों के बीच आना-जाना शुरू करते हैं। उनकी नज़र में इन लोगों की वोट है। उनकी बदौलत अपने प्रतिद्वंद्वी लल्लूराजा को प्रधानी के चुनाव में हराने का गणित बैठाते हैं। कबूतरा लोग मंसाराम की ही ज़मीन में बसे हुए हैं, उनके रहमोकरम पर। इसलिए उनके बीच इनका

अपने तरीके से रौब भी है। कबूतरा लोगों के बीच जाने पर मंसाराम, की नज़र कदमबाई पर पडती है। खूबसूरत जवान कदमबाई उनके दिल में बैठ जाती है। कबूतरा लोगों का मुख्य काम है चोरी करना। स्त्रियाँ शराब चुलाती हैं और धंधा करती हैं। थाना-पुलिस हर दम इन्हें परेशान किए रहता है। पुरुष प्रायः जंगलों में भागे रहते हैं, चोरी छिपे ही वे अपने डेरों में आते हैं।

सभ्यता का कुरूप चेहरा

मंसाराम षड्यंत्र करता है। कदमबाई अपने पति जंगलिया के लिए फसल भरे खेत में आती है। लेकिन मदहोशी में उसके साथ संभोग करते है मंसाराम । लगभग इसी समय जंगलिया थाने में मारा जाता है। कदमबाई गर्भधारण करता है। उसे सचाई का अनुमान हो जाता है, वह मंसाराम से घृणा करते हुए भी उसके गर्भ से खिलवाड नहीं करती। वह माँ बनती है। उसका बेटा होता है। नाम रखती है राणा। कबूतरा लोगों का विश्वास है कि राणा प्रताप उनकी ही जात-जमात के थे। मंसाराम और कदमबाई दो अलग अलग दुनिया के वासी हैं, दोनों एक दूसरे से मुक्त होना चाहते हैं। लेकिन नहीं हो पाते, राणा उनके बीच एक डोर की तरह है। राणा से अपने लगाव को मंसाराम छुपा नहीं पाता। नतीजतन अपने घर में बडे बेटे जोधा से अपमानित होते रहते हैं। छोटा बेटा करन राणा का मित्र और पिता का हमदर्द।

राणा को उसकी माँ और अन्य कबूतरा लोग अपराध करने केलिए उकसाते हैं। मगर राणा को उत्साह नहीं होता। वह पढना चाहता है। स्कूल में प्रवेश तो किसी तरह मिल जाता है। पर उसे बार-बार अपमानित होना पडता है। अपनी जाति को लेकर वह नल नहीं छू सकता। बच्चों के साथ हिल-मिल नहीं कर सकता, उसकी भारी मुसीबत है। इतने पर भी वह पढाई नहीं छोडता। जब वह स्कूल से लौट रहा होता है

मंसाराम की ब्याही बीवी आनंदी उस पर अपने कुत्ते छोड देती है तो बुरी तरह घायल राणा स्कूल छोड देता है। उसे उस रामसिंह के पास भेजा जाता है, जो कबूतरा जाति का एकमात्र पढा-लिखा आदमी है और मास्टर है। रामसिंह पढाई-लिखाई की बातें करता है। वह उस भूरी बाई का बेटा है जो स्वप्नदर्शी थी। उसी ने रामसिंह और अन्य कबूतरा लोगों को अपना इतिहास बतलाया था। इस इतिहास को सुव्यवस्थित ढंग से रामसिंह जानते थे। जिस-तिस के रूप में कदमबाई भी जानती थी। इस इतिहास का बिरवा उसने राणा के मन में भी बो दिया था। रामसिंह के यहां आने के बाद राणा को अनुकूल माहौल मिलता है। यहीं आकर उसे अपना पूरा इतिहास भी मालूम होता है। माँ का लगाया हूआ बिरवा लहलहा उठता है। राणा प्रताप, रानी पद्मिनी सब उसके इर्द-गिर्द घूमने लगते हैं। पद्मिनी की कथा को वह चाव से सुनता है और रामसिंह की बेटी अल्मा में उसे तलाशता है। रामसिंह की मास्टरी छूट जाती है, क्योंकि उसे लोग मास्टर के रूप में नहीं कबूतरा के रूप में ही देखते हैं। रामसिंह अब क्या करे ? उसने कोई कसम नहीं छोडी है कज्जा (सभ्य) बने रहने की । थाने पर दयनीय स्थिति थी। तय हुआ कि वेतन का आधा थाने को दो और देने लगा। लेकिन कभी देर हो जाती। हजार तरह की घरेलू कठिनाईयां- कभी बिमारी, कभी बीवी का मां बनना। थानेदार नहीं मानता, चाहे जैसे ही हो सब कुछ छोडकर रामसिंह थाने का दलाल बनता है और अंततः मारा जाता है।

व्यक्ति को शिखंडी बनाने वाला समाज

रामसिंह के घर में रहते समय राणा के भीतर सत्य और असत्य का द्वंद्व चलता रहता है। वह सत्य और न्याय के मार्ग पर चलना चाहता है। परंतु उसे पता चलता है कि उसका रहनुमा और आदर्श पुरुष रामसिंह पुलिस का दलाल है और वह

अपने कबूतरा जाति के लोगों के शिकार की दलाली कर रहा है। तब उसे ऐसा धक्का लग जाता है कि वह अंदर ही अंदर टूट जाता है। अल्मा कबूतरी का प्यार और शारीरिक आकर्षण भी उसे नहीं रोक पाता। वह रामसिंह का घर-संसार छोडकर अपने कबूतरा साथियों को रामसिंह की असलियत बताकर उन्हें उसके जाल में फंसने से बचा लेना चाहता है। वह हताश होकर अपनी मां के पास भाग आता है। यहां राणा का व्यक्तित्व एक हारे हुए व्यक्ति का है। समाज ने उसे शिखंडी बना दिया है। समाज से लडना चाहता है पर लड नहीं पाता। उसमें जोश बहुत है परंतु उसे अमल में लाने की शक्ति उसमें नहीं है। वह सपने खूब देखता है और सपने में समाज से लडता भी है, परंतु यथार्थ में वह अपनी मां के अंचल में दुबका रहता है। आरंभ से ही वह दोगली जिंदगी जीने केलिए अभिशप्त है। जन्म होता है कबूतरी के पेट में परंतु उसमें कज्जा का खून और संस्कार रचा - बसा है। उसकी हालत त्रिशंकु जैसी हो जाती है। धोबी के गधे की तरह उसकी हालत हो जाती है जो न घर का होता है न घाट का। अपने कबूतरा समाज केलिए अयोग्य राणा जब पढने स्कूल जाता है तो पुनः उसे समाज की अवहेलना सहनी पडती है। और तब तो हद ही हो जाती है जब मंसाराम की पत्नी अपने कुत्ते से उसे नुचवा डालती है और राणा क्षत विक्षत हो जाता है। उपन्यास में तो लेखिका ने हारे हुए व्यक्तियों की कथा दर्शायी है। कदमबाई, भूरी, राणा, रामसिंह- सब के सब तो समाज से प्रतिशोध लेने केलिए अलग-अलग हथियार उठाते हैं, पर स्वयं घायल ही हो जाते हैं। इनमें कुछ मर जाते हैं कुछ पागल हो जाते हैं और कुछ बौराई हुई मनःस्थिति में पहुंच जाते हैं।

मंसाराम और कदमबाई का संबंध नाजायज़ संबंध है जिसे समाज स्वीकार नहीं करता। अंततः मंसाराम सारे बंधनों को तोडकर एक ठेका खोल लेता है और कदमबाई के साथ रहने लगता है। उसके परिजन आरंभ में उनसे मुकाबला करते हैं।

कदम-कदम पर उसे ज़लील करने की कोशिश की जाती है। परंतु केहर सिंह की मदद से मंसाराम अपने मोहपाश को काट फेंकता है और आज़ाद हो जाता है। मंसाराम और केहर सिंह मिलकर लाइसेंसशुदा शराब का ठेका खोलते हैं। कबूतरा चोरी करना बंद कर देती है। वे वैध रूप से शराब बनाने और बेचने लगते हैं। कदमबाई और अन्य कबूतरा लोगों की स्थिति में सुधार होता है क्योंकि मंसाराम उनके पूरे उत्पाद के लिए बाज़ार मुहैय्या करा चुका है। ऐसा लगता है कि कबूतरा जाति की जीत हो गयी है परंतु इस विजय के बदले उन्हें अपनी आज़ादी की आहुति देनी पडती है। वे केहर सिंह और मंसाराम जैसे लोगों के गुलाम, उनके आदमी हो जाते हैं। पहले आज़ाद थे, अब दूसरों के रहमो-करम पर जी रहे हैं लेकिन उनकी ज़िंदगी यहीं तक सीमित है। इससे ऊपर जिसने भी उठने की कोशिश की उसे या तो कुचल दिया गया या मौत की नींद सुला दिया गया। रामसिंह और राणा को यही नौबत आ गयी थी।

अल्मा कबूतरी उपन्यास की समीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि इसमें दो कथा धाराएं हैं। एक धारा है जरायम पेशा कबूतरा लोगों की, दूसरी कज्जा लोगों की। लेखिका ने दोनों के यथार्थ को बारीकी से देखा है और उनकी तमाम जटिलताएं खोलने की कोशिश की है। कबूतरा जरायम पेशा तो हैं लेकिन कज्जा लोगों से कम अपराध करते है। उनके बीच ज्यादा से ज्यादा जंगलिया हैं जो सूरजभान से कम जंगली हैं। कबूतरा अपनी भूख मिटाने केलिए चोरी करते हैं तो कज्जा लोग अपने ऐश केलिए डाका डालते हैं। राम सिंह, राणा , कदमबाई इसके प्रतीक हैं कि कबूतरा लोगों की इंसान बनने की हर कोशिश जिसे समाजशास्त्री लोग मुख्यधारा में लौटाने की कोशिश कहते हैं खत्म कर दी जाती है। राम सिंह, राणा, अल्मा, कदमबाई आदि इसी त्रासदी के प्रतीक हैं।

संघर्षरत एवं शोषित नारीयों का प्रतीक

कदमबाई के चरित्र को केंद्र में रखकर मैत्रेयी जी ने पूरी कबूतरी जनजाति का जीवन हमारे सामने खोलकर रख दिया है। पुलिस द्वारा उनके ऊपर किया जाने वाला अत्याचार, प्रशासन का शोषण, सभ्य समाज का धिक्कार और घृणा, सभ्य समाज के प्रति कबूतरों का द्वेष और बदला लेने की भावना, उनकी जीवनवृत्ति आदि का विस्तार से वर्णन किया है। उनके बीच प्रचलित रानी पद्मिनी और झलकारी(रानी लक्ष्मीबाई की सहेली और अंगरक्षक) की कथा भी लेखिका ने बार-बार उल्लेख किया है क्यों कि ये अपने को रानी पद्मिनी की ही संतान मानते हैं। वास्तव में अल्मा कबूतरी की आत्मा में दो समाजों की मुठभेड और द्वंद्व है। भूरी, उसके बेटे रामसिंह और उसकी बेटी अल्मा की कहानी इसी टकराहट की कहानी है जिसमें समाज से संघर्ष करने और अपना सब कुछ दांव पर लगा देने के बावजूद हार भूरी, रामसिंह और अल्मा की ही होती है। अल्मा अंत में अपने ढंग से विजयी दिखायी देती है। यह विजय लेखिका द्वारा आरोपित नारी का विजय है जो कि नारी आन्दोलन का विजय भी माना जा सकता है।

भूरी समाज से टक्कर लेती है। समाज से प्रतिशोध लेने का उसका ढंग भिन्न है। वह अपना शरीर बेचती है और उससे प्राप्त आय से अपने बेटे को पढाती है। रामसिंह शिक्षा प्राप्त कर सभ्य समाज में रहने का प्रयास करता है परंतु उसे उस समाज में शामिल नहीं किया जाता। वह कबूतरा बनकर जीवन जीने को अभिशप्त है। वह पुलिस का दलाल बन जाता है। वह संघर्ष करने की शक्ति खो देता है और अंत में डाकू बेटाराम के नाम पर मारा जाता है। उसकी फूली हुई मृत देह को डाकू बेटाराम कहकर प्रदर्शित किया जाता है। एक कबूतरा को सभ्य बनने का अंजाम दिखाकर लेखिका ने अपने यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है।

नारी संघर्ष के विजय की शुरुआत

अल्मा की तरफ से कथा का एक नया प्रभाग खुलता है। वह राणा से प्रेम करती है। करवट लेती उसकी ज़िंदगी अब डाकुओं से होते नये डाकू सूरजभान के हाथ में है जिसे प्रांत की नयी राजनीति की मज़बूत पकड है। सूरजभान पिछडावाद की दुहाई देता है। अपनी ही जाति के एक नौजवान धीरज यादव को वह सामाजिक न्याय का इतिहास बोध कराता है। अल्मा इस सूरजभान के यहाँ से धीरज की मदद से भाग जाती है। सूरजभान के कैदखाने छत्तीस बटा चार से भागी अल्मा पहूचती है डाकू श्रीराम के मंत्री निवास में जो अब डाकू श्रीराम की जगह श्रीराम, समाज कल्याण मंत्री है। राम सिंह की बेटी अल्मा श्रीराम शास्त्री की बीवी बनकर अल्मा शास्त्री बनती है और उपन्यास के आखिर में पति की हत्या हो जाने पर विधान सभा सीट केलिए सत्तारूढ पार्टी की संभावित उम्मीदावार बन जाती है।

शुरु से ही उपन्यासकार ने अल्मा का व्यक्तित्व अपने मुताबिक गढा है। उसे बहुत कुछ सहना पडता है। वह अपने पिता की संगिनी है। राणा को वह बच्चे से मर्द की हैसियत प्रदान करती है। आततायियों को साहस के साथ झेलती है। नेताओं के चंगुल में फंसती है। पशुओं की जिंदगी से बदतर जिंदगी जीती है परंतु हार नहीं मानती। अंततः एक नेता उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाता है। उस नेता की आकस्मिक मौत के बाद भारतीय परंपरा के अनुसार दिवंगत नेता की पत्नी को उसके निर्वाचन क्षेत्र में खडा करने की बात चल पडती है। इसके बाद उपन्यास खत्म होता है। नारी मुक्ति आन्दोलन की सफलता को लक्ष्य करते हुए लेखिका ने यहाँ एक महत्वपूर्ण भूमिका तैयार की है। यहाँ अल्मा के निर्वाचन क्षेत्र में उम्मीदवार के रूप में उतरने से उपन्यास खतम होता है। इसका मतलब है कि भारतीय राजनीति में अब नारियों के

लिए काफी कुछ भूमिका निभानी है और उसे निभाने में वह सक्षम हो चुकी है तथा इस दिशा में वह अग्रसर भी है। वास्तविक दुनिया में भूरी, कदमबाई, अल्मा जैसी औरतें व्यवस्था एवं सभ्य समाज द्वारा पिस रही हैं। राणा जैसा प्रतिभा संपन्न नवयुवक विक्षिप्त हो रहा है और रामसिंह जैसे युवकों को बलि का बकरा बनाया जा रहा है। आज राजनीति के जिस अपराधीकरण की चर्चा संसद से सडक तक हो रही है उसका पूरा कच्चा चिट्ठा उपन्यासकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

चाक

सामाजिक व्यवस्था के शिकार बनती नारी

उत्तर भारत में आगरा के पास का अतरपुर नामक गाँव को केन्द्र बनाकर लेखिका ने कहानी प्रस्तुत की है। उपन्यास की शुरुआत रेशम नामक एंक पच्चीस वर्षीय युवती की हत्या की घटना से होती है। युवती तो विधवा थी लेकिन उसके गर्भ में उसके प्रेमी का बच्चा था। उसे उसके परिवारवालों द्वारा जिन्दा जला दिया गया था। उसका अपराध यह है कि उसने विधवा होकर भी किसी से प्रेम किया है, उससे गर्भवती हुई है। सास-ससुर के समझाने पर भी गर्भपात कराने केलिए वह तैयार नहीं थी। वह अपने तथाकथित अवैध बच्चे को जन्म देने की जिद्द पर अडी हुई थी। परिणामतः उसकी हत्या कर दी गयी। रेशम नाम की इस युवती की हत्या गाँव में पहली घटना नहीं है। इसके पहले रुक्मिणी, रामदेई, नारायणी आदि औरतें इसी तरह के अपराध के लिए हत्या या आत्महत्या के शिकार हो चुकी हैं। गाँव की एक विधवा युवती की छातियाँ इसलिए दाग दी गयी हैं कि उसने किसी से प्रेम करने का अपराध किया था। जिरौली वाली बहू पर देव या चुडैल की चढ़ाई होती है तो उसे मिर्ची के धुएँ पर औंधा दिया जाता है।

गाँव के सारे प्रमुख किसान और मुखिया इस घटना को दबा देना चाहते हैं क्योंकि उनकी नजर में यह कोई चिन्तनीय अपराध नहीं है। पर रेशम की बहन सारंग जो आगे चलकर उपन्यास की केन्द्रीय पात्र के रूप में विकसित होती है इस हत्या से अत्यन्त विचलित और क्षुब्ध हो जाती है और वह अपनी बहन रेशम के खून का हिसाब चाहती है। आगे चलकर हरिप्यारी नाइन की बेटी गुलकन्दी बिसुनदेव खटिक से प्रेम करती है और उससे गान्धर्व विवाह कर लेती है। पर जिस प्रकार उच्चवर्गीय समाज में स्त्री को प्रेम करने का अधिकार नहीं है उसी तरह निम्नवर्गीय समाज में भी स्त्री को अपना प्रेमी और पति चुनने की आज़ादी नहीं है। निम्नजातीय समाज में भी लडकी का किसी दूसरी जाति के लडके के साथ विवाह निषिद्ध है और इसके लिए लडकी को कडी से कडी सज़ा देना समाज की अलिखित दण्डसंहिता में शामिल है। अतः गुलकन्दी जला दी जाती है और उसके साथ उसकी माँ और उसे बचाने के प्रयास में उसका प्रेमी भी जल कर मर जाते हैं। इस हत्या का विरोध भी गाँव के लोग सक्रिय रूप से नहीं करते। लोग पुलिस से डरे हुए हैं और गाँव के प्रभावशाली नेता अपनी-अपनी तरह से इस हादसे को निपटाने की कोशिश करते हैं। सारंग, भँवर और छज्जू इसके विरोध में आवाज उठाने की कोशिश करते हैं पर उन्हें छुप करा दिया जाता है।

प्रतिशोध करने वाली नारी की प्रतिनिधि

रेशम के हत्यारों को सज़ा दिलाने के लिए सारंग अपने पति रंजीत को प्रेरित करती है। रंजीत अपने प्रारंभिक प्रयत्न में सफल भी होता है और हत्यारा डोरिया पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाता है पर गाँव के दबंग वर्ग की सम्मिलित शक्ति के सामने वह घुटने टेक देता है। आततायी वर्ग द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जाती हैं कि रंजीत न केवल डर जाता है वरन् उनके द्वारा दिये गये प्रलोभन का भी

शिकार हो जाता है। वह फत्तेसिंह प्रधान के बहकावे में आ जाता है और रेशम के हत्यारे डोरिया को सज़ा दिलाने का उसका संकल्प हवा हो जाता है। यहां सारंग पुरष पर आक्रोश करनेवाली नारी का रूप लेती है और डोरिया को वह मारती है। लेकिन डोरिया उसकी ब्लाउज फाड देता है। यहाँ प्रतिक्रिया के साथ दमन की विवशता भी है। पर सारंग डोरिया पर क्षमा नहीं करती और रंजीत की इच्छा के खिलाफ रक्षा बन्धन के अवसर पर आयोजित कुश्ती में गाँव के एक सम्बन्धी पहलवान केलासी सिंह को बुलावा देकर डोरिया की धुनाई करा देती है। यहीं से सारंग अपने पति रंज़ीत से संघर्ष का सिलसिला शुरू करती है। डोरिया के डर से सारंग न चाहते हुए भी अपने बेटे चन्दन को अपने जेठ के पास आगरा भेजने को तैयार तो हो जाती है पर अपने पुत्र से अलग होने का उसका दु:ख बहुत भारी है। सारंग इसे रंजीत की कायरता ही मानती है।

दलित जाति के नेंकस्सेराम नामक मास्टर को स्कूल से तबादला कराने का प्रसंग उपन्यास में है। थानसिंह मास्टर, फत्तेसिंह प्रधान आदि लोग इसके लिए काम करते हैं। उसके बाद स्कूल में नया मास्टर श्रीधर प्रजापति स्थानांतरित होकर आता है। श्रीधर कुम्हार जाति का है। स्कूल के नए मास्टर श्रीधर को घरों में स्वागत करते समय सारंग उसे देखती है और उसका पाँव छूती है। छोटी जाति के श्रीधर का पाँव छूना सारंग को गर्व की बात लगती है। लेकिन लोगों के सामने वह एक निषेध का काम हो जाता है। नए मास्टर जी से प्रभावित होकर सारंग अपने बेटे चन्दन को आगरा से बुलाना चाहती है। पर रंजीत ऐसा नहीं चाहता क्योंकि उसके मन में शक पैदा हो जाता है कि सारंग श्रीधर को चाहने लगी है। पर सारंग नहीं मानती और चन्दन को चुपचाप चिट्ठी लिखकर बुला लेती है। सारंग का यह निर्णय भी उसके पारिवारिक जीवन को कटु बनाने में योग देता है।

परिवर्तित नारी संकल्प

एक ओर स्कूल की कहानी कथ्य के दो आयाम प्रस्तुत करती है। एक तरफ तो उससे ग्रामीण स्कूलों की दयनीय स्थिति तथा उनमें फैले भ्रष्टाचार का यथार्थ सामने आता है तो दूसरी तरफ एक प्रेमकहानी भी उससे निकलती है। नया शिक्षक श्रीधर प्रजापति एक आदर्श के प्रति समर्पित है। वह अपने को एक ऐसे कुम्हार के रूप में देखता है जो अपने चरित्र और प्रतिबद्धता के चाक पर बच्चों का व्यक्तित्व गढता है। इस केलिए उसे गाँव के स्वार्थी और दबंग तत्वों से जूझना पडता है। फत्तेसिंह प्रधान की बिल्डिंग फण्ड की लूट की साजिश में शामिल न होने के कारण उसे प्राणघाती हमले का शिकार भी होना पडता है। पर श्रीधर झुकता नहीं और गाँव की भ्रष्ट व्यवस्था की जड पर ही प्रहार करने की योजना बनाता है। वह महसूस करता है कि यह काम सारंग ही कर सकती है।

श्रीधर स्त्रियों की दयनीय स्थिति से भी पीडित है। उसके निजी जीवन में ऐसी घटनाएं घट चुकी हैं जिनके कारण वह इस समस्या के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो चुका है। उसे यह देखकर सदा आश्चर्य होता रहा है कि "जानवरों के बाद अगर किसी को खँटे से बाँधा जाता है तो वे आँगन लीपती, घर सहेजती औरतें हैं।...यहाँ तो स्त्री का जन्म होते ही खेरापतिन दादी की कथा याद कराने लगती है कि बेटी जन्मी है तो इसे खबरदार भी करती रहना इसकी जननी कि इसको कितने और कहाँ तक पाँव बढाने हैं। छोटी कौम से लेकर बडी जाति तक की औरतों की एक ही दशा। एक-से बन्धन। एक-से कसव। परिवार नहीं, सन्तान का मोह इनको जीने की हिम्मत देता रहता है। कचहरी-कानून इन केलिए भी हैं, लेकिन वहाँ तक इनका जाना; चली भी जाएँ तो हर ओर से हमलवार घेरने लगते हैं।" [1]

---

1. मैत्रेयी पुष्पा चाक पृ. 345

स्कूल की कथा से जुडा दूसरा प्रसंग श्रीधर और सारंग के प्रेम के रूप में उभरता है। सारंग एक पढे-लिखे किसान रंजीत की पत्नी और लगभग दस वर्ष के बच्चे की माँ है। उसके व्यक्तित्व में विद्रोह की आग भरी हुई है। स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले अत्याचारों को वह चुपचाप सहन नहीं कर सकती। वैवाहिक जीवन के आरम्भ में वह अपने पति से सन्तुष्ट भी है। पर अपनी बहन रेशम की हत्या के बाद रंजीत से उसका मोहभंग हो जाता है। रंजीत न केवल कायर और सुविधाभोगी है, वरन् नौकरी प्राप्त करने में होनेवाली असफलताओं से कुंठित भी है। वह चन्दन को गाँव के स्कूल में पढाना नहीं चाहता जबकि सारंग इसकेलिए कृतसंकल्प है। इसी रस्साकशी में सारंग रंजीत से खिंचती और श्रीधर से जुडती जाती है। श्रीधर के प्रति सारंग का यह जुडाव शारीरिक तक भी पहूँचता है और उसके दाम्पत्य जीवन में हलचल और तूफान पैदा हो जाता है। यहाँ उपन्यासकार एक महत्वपूर्ण बात साबित करने की कोशिश कर रही है कि आज की नारी और भारतीय संस्कृति की नारी याने कि देवी रूप में काफी अंतर आ चुके हैं। क्यों कि यहां सारंग के प्रेम में कोई जानलेवा भावावेश नहीं है जो उसे विक्षिप्त कर दे और पारिवारिक बन्धनों को छिन्नभिन्न कर डाले। वह अपने परिवार के प्रति भी उतना ही समर्पित है जितना अपने प्रेम के प्रति। जिस सहजता से वह श्रीधर के साथ सम्भोग करती है उसी सहजता से वह रंजीत को भी सन्तुष्ट करती और स्वयं सन्तुष्ट होती है। इसे वह अपना स्त्री अधिकार मानती है। कदाचित् यह स्त्री अधिकार ही सारंग -श्रीधर की प्रेमकथा का कथ्य है।

शोषण का समाधान - नारी का सत्ता में प्रवेश

सारंग के चरित्र में उदात्त संभावनाएँ हैं। अन्याय से लडने, आतताईयों का मुकाबला करने, नारी अधिकारों केलिए अपनी जान तक दे देने की हिम्मत उसमें है।

उसमें गहरी संवेदनशीलता, विवेक और संगठन-क्षमता भी है। पर यह सब उसमें कच्चे उपादान के रूप में है। श्रीधर इस कच्चे उपादान को सही रूप देने केलिए कुम्हार का काम करता है। अपने लक्ष्य को कार्यान्वित करने के लिए श्रीधर सारंग को ग्राम पंचायत के चुनाव में प्रधान पद केलिए खडा होने की प्रेरणा देता है और भँवर की सहायता से वह चुनाव की पर्चा भर देती है। यहाँ उपन्यासकार यह विचार प्रस्तुत करता है कि सत्ता सदियों से पुरुष के हाथों में है। इसी कारण से स्त्रियों का शोषण सदियों से हो रहा है और जब तक सत्ता पुरुषों के हाथ में रहेगी तब तक स्त्री पर होने वाले अत्याचार समाप्त नहीं कर सकते। अतः जरूरी है कि नारी सत्ता में आए। कदाचित् तभी सत्ता-प्राप्ति के लिए किये जाने वाले अनैतिक साधनों का प्रभुत्व भी समाप्त होगा। यहाँ जब सारंग प्रधान पद केलिए पर्चा भर देती है तो पुरुष समाज में अफरातफरी मच जाती है। फत्तेसिंह प्रधान की सारी रणनीति ढेर हो जाती है। कुँवर पाल की धन, जाति और प्रशासन के बल पर खडी राजनीतिक महत्वाकांक्षा उसकी शराब पार्टी की तरह ही तहस-नहस हो जाती है। सारंग के पीछे पूरी नारी - शक्ति सभी प्रकार के सामाजिक भेदभाव को त्याग कर खडी हो जाती है। प्रधान के पद पर उसकी जीत सुनिश्चित होती दिखाई देती है।

संघर्षरत नारी चेतना का स्वरूप

लेखिका ने यहां अपने पात्रों को संघर्षरत दिखाया है कहीं भी कोई भी स्त्री पात्र रोती नहीं है। यहाँ तक कि मरनेवाली औरतें भी कहीं रोती दिखाई नहीं देतीं। रेशम और गुलकन्दी दोनों जीवन्त पात्र हैं। रेशम तो गजब की अक्खडता के साथ अपने गर्भ-धारण के अधिकार पर गर्व करती है। गुलकन्दी भी अपना जीवन साथी चुनने में किसी कुंठा से ग्रस्त नहीं है। अपने मंगेतर का विश्वासघात प्रमाणित हो जाने

के बाद उसे निर्णय लेने में कोई देर नहीं होती। सारंग को अपने प्रेमी के साथ सम्भोग करने में कोई नैतिक संकट का अनुभव नहीं होता पति की अनुमति के बिना चुनाव में भाग लेनेवाली पत्नी सारंग बेटे को अपने साथ रखने केलिए पति के सामने बन्दूक भी लेती है। उसके पति के आततताई होने पर वह बन्दूक उठा लेती है। सारंग का बन्दूक से फायर करना नारी के हिंसक विद्रोही बनने की और इशारा करता है, "उपन्यास के हर एक प्रसंग में नारी -शोषण पर प्रकाश डालने का प्रयास लेखिका ने किया है। साथ ही साथ औरत को समाज के ऊँचे स्थान पर पहूँचाने का प्रयास भी। सारंग केलिए सृजित सन्दर्भ कभी-कभी लेखिका के औचित्य पर सन्देह पैदा करते हैं। श्रीधर प्रजापति और केलासी सिंह के यौन-सम्बन्ध का वर्णन उदाहरण है।"[1] उपन्यास के अंत में सारंग की हालत बहुत अच्छी बन जाती है। वह गाँव का प्रधान हो जाती है और उस का शासन करती है। लेकिन रंजीत का मन ग्रामीण रूढियों में कैद है। उस पर हँसी उडानेवाले लोगों के सामने वह सिर झुका लेता है। पत्नी का उत्कर्ष पहचानने में वह असफल हो जाता है, "मैत्रेयी पुष्पा का चाक सामाजिक यथार्थ का अविकृत दर्पण होता है। वह नाना समस्याओं से टकराता है, जूझता है। इसमें समय की गतिमानता में चाक के समान ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, कभी दबती, कभी तनती, कभी रोती, कभी गरजती, दहाडती सारंग के रूप में स्त्री का खरा रूप व्यक्त है।"[2] नारी मुक्ति आन्दोलन पर लिखी जाने वाली रचनाओं की सूचि में उपन्यासकार ने एक सशक्त सृष्टि जोड दी है। संसद में स्त्रियों केलिए आरक्षण की चर्चा तो अग्रसर है और लेखिका भी यहाँ प्रेरणा दे रही है कि सत्ता हासिल करने पर ही नारी पर किये जाने वाले अत्याचार और शोषण पर रोक लगाया जा सकता है।

---

1. प्रो.डॉ. एन. मोहनन, उत्तर शति का हिन्दी उपन्यास; पृ. 117
2. वही. पृ. 118

आँवां

उपन्यास की नायिका नमिता के पिता देवीशंकर पांडे फालिज से अपाहिज होकर बिस्तर पर पडे हैं। मां के अतिरिक्त परिवार में दो छोटे भाई-बहन और हैं। मोटी फीस से बचने केलिए बहन को मां हिंदी स्कूल में भर्ती करा देती है। लडका होने और भविष्य में सारी आशाओं का केंद्रबिंदु होने के सबब भाई को अंग्रेजी स्कूल में ही पढाती है। नमिता बी.ए. पास कर लेती है। वह टाईपिंग और शार्ट हैंड भी जानती है। परिवार की जैसी स्थिति है उसमें आगे की पढाई जारी रख पाना संभव नहीं था। नौकरी की प्रतीक्षा एवं प्रयास के बीच वह 'श्रमजीवा' संस्था की ओर से शाहबेन की सहायता से रोज सौ-सवा सौ पापड बेलती है, साडियों पर फॉल टांकती है, ट्यूशन करती है। इन्हीं सबके बीच समय निकालकर वह नौकरी केलिए रोजगार कार्यालय'का चक्कर काटती है, गृहस्थी के काम में मां का हाथ बंटाती है और बीमार पिता की दवा-दारू और सेवा-सुश्रूषा करती है। इन विविध मोर्चों पर संघर्ष के बीच ही नमिता के चरित्र की परतें धीरे-धीरे खुलती हैं। जिस बिंदु पर वह खडी है वहाँ से आगे बढने की प्रक्रिया में ही जब-तब उसका अतीत भी छोटे-छोटे टुकडों में फ्लैश बैकों में उसके वर्तमान के समानांतर उभरता रहता है। बीच बीच में अपनी सखी के रूप में हर्षा से हुआ उसका संवाद वस्तुतः नमिता के अपने अर्द्धांश से हुआ संवाद ही है। हर्षा जैसे उसकी क्षतिपूर्ति का माध्यम है उसी का अपना प्रतिरूप भी है। हर्षा से लडकर वह अपने संकोच और वर्जनाओं से भी लडती है संवाद-विवाद की इस प्रक्रिया में वह आगे की राह खोजती और निर्णय लेती है।

आधुनिक परिवेश में समायोजित होती नारी अस्मिता

नौकरी की तलाश में उसकी भेंट संयोगवश अंजना वासवानी से होती है। एक दिन भीड और हडबडी में वह लोकल ट्रेन की प्रथम श्रेणी के डिब्बे में घुस जाती है। जब तक उसे वस्तु-स्थिति का पता चलता है गाडी गति पकड चुकी थी। बेहद साधारण कपडों और चप्पलों में उसकी घबराहट को अंजना ताड लेती है। एक-दो स्टेशनों पर नमिता के उतरने का प्रयास भी उससे छिपा नहीं रहता, लेकिन भीड और गाडी की गति के कारण यह हो नहीं पाता। बातों में अंजना वासवानी उसकी स्थिति जानकर उसे आश्वासन देती है कि वह आराम से बैठी रहे। रास्ते में चेकिंग होने पर उसका जुर्माना वह भर देगी। इसी बीच वह अपना कार्ड भी उसे देती है कि कभी ज़रूरत होने पर वह उससे सम्पर्क कर सकती है। आगे चलकर नमिता को बाबा ज्वैलर्स में साढे तीन हज़ार की नौकरी मिलती है जो उसके सपनों की किसी भी उडान से ऊंची है। क्रिस्टल में अप्रत्याशित और अनोखे ढंग से उसका जन्मदिन मनाता है जिसमें जैसे उसका काया-कल्प हो जाता है। उसकी अनेक शंकाओं और जिज्ञासाओं को अंजना वासवानी यह कहकर शांत करने की कोशिश करती है, "सोने का खरापन मैं बिना अग्नि-परीक्षा के अनुभव कर सकती हूँ, नमिता।"[1] वासवानी की नजर सचमुच उसे पहचानने में चूकती नहीं है। वह सोना ही है। यह अलग बात है कि वासवानी यह सब स्वयं अपने लिये न करके किसी और केलिए कर रही है।

अंजना वासवानी के सम्पर्क में आकर जैसे नमिता के आगे एक नई अकल्पित दुनिया खुलती जाती है। यहीं आभूषणों के एक बडे व्यवसायी के रूप में संजय कनोई से उसकी भेंट होती है। लेकिन नमिता को मॉडल बनाकर धारण किये

---

1. चित्रा मुद्गल आँवां पृ. 195

गये आभूषणों की प्रकृति और सज्जा के बहाने उसका स्पर्श, व्यवहार और आंखों की भाषा नमिता से बहुत कुछ कहते हैं। बाद की भेंटों में न सिर्फ निर्मला का व्यवधान हट जाता है, अपने दाम्पत्य संबंधों के प्रति संजय का वितृष्णापूर्ण असंतोष भी जाहिर होता है। इसी सम्पर्क में नमिता के फोटो सेशन की प्रक्रिया में उसे संजय कनोई के फोटोग्राफर सिद्धार्थ का खुला प्रस्ताव भी मिलता है उसकी 'इलिस माछ' बनकर दैहिक संबंधों की स्वीकृति और लाभ में साठ प्रतिशत की उसकी हिस्सेदारी। सिद्धार्थ को भले ही वह अपनी उग्र प्रतिक्रिया से हताश करती है लेकिन संजय कनोई के साथ स्थिति भिन्न है। हर्षा के साथ उसका कल्पित संवाद वस्तुतः नमिता का अपना ही अंतर्द्वन्द है। हर्षा उसे अपना मन पढ पाने के लिये फटकारती है। नमिता अपने देह-मन की नयी भाषा समझने में अक्षम नहीं है। लंदन से मिले पौन करोड के सौदे के बाद संजय कनोई के सख्त हाथों में वह मोमबत्ती-सी सिहरती और पिघलती है।

हैदराबाद में प्रशिक्षण के दौरान बहुत विलंब से नमिता को यह पता चलता है कि वह संजय कनोई के बच्चे की माँ बनने वाली है। सूचना मिल जाने और उसकी परेशानी की बात जानकर भी यह लगे बिना नहीं रहता कि गौतमी जान-बूझकर अपना आना टालती है। धीरे धीरे यह रहस्य भी अप्रकट नहीं रहता कि वे दोनों -अंजना वासवानी और गौतमी -संजय कनोई के एजेंट के रूप में ही काम कर रही है और नमिता की नौकरी उसी सोची-विचारी योजना का ही एक हिस्सा है। संजय कानोई जैसे यह सूचना पाकर आसमान में उडने लगता है। तेरह वर्षों के दाम्पत्य जीवन में जो नहीं हुआ वह अब हुआ है। वह अपने मर्द होने पर विश्वास ही नहीं, गर्व भी कर सकता है। अपने इसी मर्द होने को प्रमाणित करने केलिए वह कुछ निर्णय नमिता के संदर्भ में भी लेता है। अंत में सारी आशंकाओं और सामाजिक वर्जनाओं के बावजूद संजय कनोई के बच्चे को जन्म देने का मन वह बना ही लेती है, लेकिन पवार द्वारा फोन पर मिली

अन्ना साहब की हत्या की आकस्मिक सूचना से वह अपने को संभाल नहीं पाती। चक्कर खाकर वह गिर पडती है। और गर्भस्राव हो जाता है। लेकिन नमिता के विश्वास दिलाने पर भी संजय यह मानने को तैयार नहीं होता कि गर्भपात उसकी अपनी इच्छा के विरुद्ध हुआ है उसने जान बूझकर कुछ नहीं किया है। संजय कहता है कि "मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हो-मुझे नहीं गवारा ऐसी किराए की कोख मुझे सिर्फ उस लडकी से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो, पवित्र हो, जो मुझसे सहवास करे। हमारा मिशन सफल रहा... तेरह वर्ष बाद मैं बाप बना... अपने बच्चे का बाप । उस औरत से जिसे मैं सचमुच प्यार करने लगा। उसी ने.. उसी ने मुझे धोका दिया ?.....मेरे बच्चे की जान ले ली..."[1] संजय की आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया जैसे नमिता को एक झटके के साथ सच के झलमलाते प्रकाश में खडा करती है। सारे सामाजिक प्रतिरोध के बावजूद एक विवाहित पुरुष से प्रेम और विवाह का निर्णय उसका अपना था। सब कुछ वैसा ही छोडकर वह वापस लौटने का निर्णय लेती है तथा अपनी माँ के साथ न रहकर किशोरी बाई के साथ रहने केलिए तैयार हो जाती है जहाँ वह स्त्री-विमर्श की अपार संभावनाएं देखती है।

स्त्री विमर्श का मूल आधार

लेखिका ने उपन्यास में स्त्री -चेतना की देशज प्रकृति पर जोर दिया है। उपन्यास में कई ऐसे पात्र हैं जो पुरुष के विरोध को ही स्त्री - विमर्श का मूलाधार मानते हैं। पुरुष के वर्चस्व और उसकी आचारगत निरंकुशता से बचाव की दृष्टि से हर्षा नमिता को हाथ में सूजा लेकर चलने का सुझाव देती है ताकि पुरुष की शारीरिक

---

1. चित्रा मुद्गल आँवां - पृ. 539

ज्यादतियों का माकूल जवाब दिया जा सके। गौतमी को अपने पति अशोक' से वैसे ही संबंध है जैसे घर में फ्रिज, अलमारी या वाशिंग मशीन से होते हैं। चीजें काम करती हैं, बदले में वह उसकी देख-भाल करती है, "अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है। शेष मैं क्या हूँ, कहां जाती हूँ, किसके साथ सोती हूँ, सोना चाहती हूँ, सोती भी हूँ या नहीं सोती हूँ कोई मतलब नहीं उससे घर मेरा है। अशोक को रहना है रहे, न रहना हो छोडकर चला जाये.... ।"[1] यह एक कमाऊ स्त्री का वक्तव्य है जो आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर है। वह पति को एक अधिकृत बलात्कारी के रूप में देखती है जो स्त्री की मरजी की चिंता किये बिना जब चाहे उसे बिस्तर पर पटक सकता' है। उसने अशोक को इस अधिकार से वंचित कर रखा है।

स्मिता के पुरुष-विरोध की जडें उसके अपने परिवार में ही हैं। उसका पिता मटका किंग है- दुराचार और अपराध की दुनिया का आदमी। वह उसे 'राक्षस ' कहती है जो अपनी बेटी को भी नहीं छोडता। स्मिता की बडी बहन कई बार गर्भपात करा चुकी है और दूषित पारिवारिक वातावरण से इस कदर आहत होकर एक दिन चुपके से पिता को सीढियों से धक्का दे देती है तथा अपने पिता की हत्या कर देती है। वह 'साले' मर्दों को उनका मर्दानगी का सबक सिखाना चाहती है और इसकी शुरुआत अपने बाप से ही करती है। अन्ना साहब के प्रसंग में नमिता का अनुभव सुनकर वह क्रोधावेश में कहती है, "मजदूर नेता हो या मटका किंग, सब साले मर्द हैं...कुत्ते कटखने..."[2] एक विवाहित पुरुष से अपने प्रेम को नमिता' गलत नहीं मानती-खासकर उसके असफल दाम्पत्य जीवन के परिचय के बाद। अपने मन और

---

1. चित्रा मुद्गल आँवां पृ. 361
2. वहीं पृ. 27

देह की भाषा को सम्मान देकर ही वह उसके बच्चे की माँ बनने की स्थिति तक पहूंचती है। सामाजिक लांछना और स्वीकृति का द्वंद्ध भी उसे उलझाता है। लेकिन फिर आगे चलकर उससे विवाह करने के संजय कनोई के आश्वासन और पिता बनने की उसकी अधीर आकांक्षा को देखते हुए वह अपने निर्णय पर पुनर्विचार भी करती है, किंतु अन्ना साहब की हत्या की सूचना से हुए उसके गर्भस्राव को संजय उसके कैरियर की आकांक्षा से जोडकर देखता है और पुरुष वर्चस्व को जिस भौंडे और नंगे रूप में उस पर लादने की कोशिश करता है उससे न सिर्फ नमिता का मोहभंग होता है, अपने निर्णय पर उसे पश्चाताप भी होता है। वापसी में उसे कोई दुविधा नहीं होती। अपनी लंबी यात्रा को समेटकर, बंबई लौटकर, वह उसी मजदूर आंदोलन से जुडने का निर्णय लेती है जिसे लेकर उसके मन में अनेक शंकाएं रही हैं। किशोरी बाई की बेटी सुनंदा सुहैल से प्रेम करती है। धर्म-परिवर्तन को तैयार न होकर भी वह अपने बच्चे को जन्म देती है। बिरादरी में सुहैल के अब्बा का नाम बचाने केलिए भी वह अपना नाम और धर्म बदलने से इनकार कर देती है। वह स्पष्ट कहती है " मेरी मातृत्व विवाह के टुच्चे प्रमाण-पत्र का मोहताज नहीं ।"[1] वह धर्मांधता की बलि चढ जाती है लेकिन उसकी यह आस्था अंत तक अडिग बनी रहती है कि धर्मांधों की कलाइयाँ स्त्रियां ही पकड सकती हैं कि वे माचिस न सुलगा सकें। औरों के प्रति सामान्यतः विद्रूप और व्यंग्य की भाषा बोलने वाला पवार ' क्रांतिदूती ' कहकर उसकी अभ्यर्थना करता है।

श्रमिक संगठन तथा नेताओं की भूमिका

समकालीन जीवन के सामने अनेक खतरे हैं अनेक समस्याएँ हैं। आज की राजनीति और नारी की दयनीय स्थिति विशेष चिन्तन का विषय रही है। यहाँ लेखिका

---

1. चित्रा मुद्गल आवां पृ. 111

ने राजनीतिक नेताओं की कपटी मुखौटे को फाटकर आज के राजनीतिक,नेताओं का असली चित्र प्रस्तुत किया है। जगदम्बा बाबू उन तमाम नेताओं के प्रतीक है जो वोट पाने केलिए आम जनता को धोखा दे रहा है। जब चुनाव में हार हो जाता है तब उनके नाम पर दे दिये मुद्दों को रातों रात वापस लेते है। श्रमिक-संगठन के अन्ना साहब जैसे बडे नेता यौन-विकृतियों के शिकार हैं। रुपये-पैसे और जमीन-जायदाद के मामले में वे विवादों से घिरे हैं। अपनी सिंधी मालकिन का मकान उनके द्वारा कब्जा लिए जाने की चर्चा आम है। इस तरह अर्जित संपत्ति के बल पर ही उनकी बेटी विदेश में पढ रही है। शिवहर आठवले जैसा आदमी आज उनका अंगरक्षक और ड्राइवर है जिसने मजदूरों के संघर्ष को सुपारी के धंधे में बदल दिया है, लेकिन यह उनके चरित्र का सिर्फ एक पक्ष है। नमिता के पिता की सेवाओं और बाद में उनकी असहाय अवस्था को देखते हुए अपना वही पुराना मकान वे उसके परिवार को सौंप देते हैं। मज़दूर हितों के वे जबर्दस्त संरक्षक हैं और अंततः उनकी लडाई लडते हुए ही उनकी हत्या हो जाती है। पवार दलित होकर भी, बाबा के दिये सवर्ण नाम के कारण उसी रूप में जाना जाता है। वह स्पष्टवादी, कर्तव्यनिष्ठ और कठहुज्जती की हद तक जाता तर्कशील युवक है जिसकी चौडी काली छाती पर छतरे घने बालों पर सिर टिकाने का सपना जब-तब नमिता ने भी देखा है। नानावटी अस्पताल में, उसके पिता की अस्वस्थता के समय, कामगार आघाडी के साथियों से जैसा उदार एवं आत्मीय सहयोग नमिता के परिवार को मिला है, वह अद्‌भुत है। मजदूर एकता और परिवारवाद को गहरा बल मिलता है। पवार, शिंदे, शोभनाथ त्रिपाठी नमिता को बेटी कहकर पीठ थपथपाकर हिम्मत बंधाता है । शिंदे अपनी पत्नी की चूडियां बेचकर, पांडे के इलाज केलिए, पांच हजार रुपयों की व्यवस्था कर देता है। यही नहीं, वह उन रुपयों को भाई से उधार लिया बताता है।

इस प्रसंग में अन्ना साहब तो अलादीन का चिराग साबित होते हैं। जो श्रममंत्री तक को फोन करके अस्पताल की सारी संभव सहायता की व्यवस्था करते-करवाते हैं।

श्रमिक संगठनों में अपेक्षित परिवर्तन

नमिता का मजदूरों के जीवन और संघर्ष से घनिष्ठ एवं आत्मीय संबंध रहा है। उसी के आधार पर लेखिका कहानी में ट्रेड यूनियन और श्रमिक -संघर्ष का विस्तारपूर्वक अंकन करती है। मजदूर आंदोलन के दुर्बल पात्रों की आलोचना के कारण उन्हें मजदूर और संगठन-विरोधी भी ठहराया जा सकता है। अपने पक्ष में उनकी दलील है कि वे स्वयं कुछ समय तक ट्रेड यूनियन से जुडी रही हैं और श्रमिक-परिवारों से उनका लंबा नाता रहा है। उनके संघर्ष और अभावों को उन्होंने निकट से देखा है, लेकिन वे उनके ऐबों और कमजोरियों को भी नजरन्दाज नहीं करतीं। उनकी आलोचना बाहर के आदमी द्वारा की गयी आलोचना न होकर अंदर के आदमी द्वारा की गयी आत्मीय और सहानुभूतिपूर्ण आलोचना है जिसका उद्देश्य अंततः संगठन को दुर्बलताओं से मुक्त करके उसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावी बनाना ही है। इसलिए नमिता जब आहत होकर मुम्बई वापस चली जाती है तो वह अपनी माँ के साथ न रहकर मजदूर किशोरी बाई के साथ रहती है और 'कामगार आघाडी' के लिए काम करने का निर्णय लेती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि एक मजदूर की बेटी को शुरु में मजदूर राजनीति से मोहभंग होता है और वह समृद्धों की दुनिया में कदम रखती है। पर वहाँ की हालत ज्यादा बदत्तर पाकर पुनः मजदूरों के बीच काम करने का मन बना लेती है। याने कि यहां मज़दूर राजनीति के अन्तर्विरोध, आपसी वैमनस्य, प्रतिद्वन्द्विता और अपराधिकता को दर्शाकर मजदूर आंदोलन के एक उज्वल भविष्य की कामना कर रही है।

नारी मुक्ति का वास्तविक अर्थ

उपन्यासकार ने एक विस्तुत फलक में कहानी प्रस्तुत की है। यहाँ दो दिशाओं में एक तो नारी-चेतना और दूसरा श्रमिक आंदोलन में संतरण करता हुआ कथा विकसित होती है। यहाँ कहानी की शुरुआत नमिता के संघर्ष से शुरू होती है जिसमें उसके पिता की बिमारी और आर्थिक संकट के कारण उसकी पढाई बीच में ही रुक जाती है। परिश्रम और संघर्ष के सहारे पिता और परिवार की भरसक सेवा-सहायता करते हुए वह अपने भविष्य की दिशा खोजती है, "आवां एक जलती हुई भट्ठी है। समाज में व्याप्त विसंगतियों की या यों कहूँ मानवीय जीवन की उन ज्ञात-अज्ञात विसंगतियों की, जिन्हें आज हम प्रत्येक व्यक्ति के मुखौटे के अन्दर देख सकते हैं। मैं ने आवां में इस मुखौटे के भीतर झांककर देखा और पाया है कि हर एक पात्र का व्यक्तित्व इस आवरण को चीर कर ही देखा जा सकता है। चाहे वे अन्ना साहब ही क्यों न हो अथवा अंजना वासवानी और सुनंदा के पिता देवी शंकर पांण्डेय। सारे चमकते व्यक्तित्व के भीतर कहीं न कहीं वासना की गंध (दुर्गंध नहीं कहता) आती है।"[1] यहाँ लेखिका यह स्पष्ट करने की कोशिश कर रही है कि आखिर नारी मुक्ति आंदोलन का मतलब क्या है ? नारी की मुक्ति किससे है और इसका मकसद क्या है ? जीवन के कटु अनुभवों का सामना करने पर तथा संघर्ष करने पर ही प्रत्येक व्यक्ति को वास्तविकता का एहसास होता है। नमिता के जीवनानुभवों के द्वारा पाठकों के सम्मुख यह साबित करने का प्रयास हुआ है। अपने इस संघर्ष के बीच ही नमिता को यह बोध होता है कि नारी की मुक्ति कोई स्वायत्त परिघटना न होकर बृहत्त सामाजिक मुक्ति का ही एक हिस्सा है। उसको पुरुष के विरोध में खडे होकर नहीं उसके साथ खडे होकर

---

1. कल्याणमल लोढा अप संस्कृति और औद्योगिक अभिशाप का प्रभावी चित्रण वागर्थ, अंक 65 नवंबर 2000 पृ. 87

एक संपूर्ण लडाई के रूप में ही लडा जा सकता है। यहाँ लेखिका ने आधुनिक जलते परिवेश में घर परिवार और समाज की समस्याओं और दुरवस्थाओं, विसंगतियों और विद्रूपताओं के साथ संघर्ष करने वाली नारी का चित्रण किया है तथा मज़दूर आंदोलन के कटु यथार्थों से मोहभंग होने के बावजूद जीवन के विभिन्न कटु अनुभवों से गुजरते हुए पुनः मजदूर आंदोलन में ही संभाव्य उज्ज्वल भविष्य की ओर मुडने और कार्य करने का निर्णय लेती है।

सीता

उपन्यास का आरम्भ कथात्मक ढंग से आदिवासी जनता की मासूमियत और राजनीतिक व्यंग्य से होता है, जिसमें रामगढ राजा की पत्नी का अपनी प्रजा से वोट मांगने की सूचना दी जाती है। राजनीतिक शक्ति और पैसे की शतरंजी चाल से माहिर खिलाडी राजा साहब के हेलिकोप्टर को आकाश में उडते देख नीचे जंगलों में, रास्तों पर, खेतों में आदिवासी प्रजा धरती पर लेटकर उनका साष्टांग अभिवादन करती है। अपने राजा को इतना मान देने वाली प्रजा के बीच से लालच, सरदार को उसके दल के प्रत्येक मजदूर की कमाई से रुपये में दस पैसे बिना खटे किसी सरकारी अफसर या यूनियन के नेता में नहीं थी, यद्यपि यह सभी जानते थे कि वहाँ माँ-बाप के साथ बारह तेरह वर्ष के बाल मजदूर और हेसागढा सहित अन्य कोलरियों में अण्डरग्राउण्ड खदानों में भारी संख्या में औरतें भी खटती थीं। वहाँ मौजूदगी में भी ब्लास्टिंग भरा काम चलता रहता था। नियम-विरुद्ध कटाई के करण पता तक नहीं चलता था। एक अतिशय संवेदनशीलता के साथ ग्रामीणों और मजदूरों की असुरक्षित खदानों में होती जर-जर जिन्दगी पर लेखिका ने व्यंग्य किया है, "रोज़गार और देश के नाम पर ऐसा भयानक शोषण। मासूम जिन्दगियों से इतना बडा मज़ाक।' मज़दूरों के

फायदे के तर्क पर खदान पर अगल-बगल ही उन्हें छप्पर छाकर रहना पडता है। उस इलाके पर ठेकेदारों, लठैतों, रंगदारों और महाजनों का राज था सोलहवीं सदी के मध्ययुग जैसा सामंती परिवेश।"[1] यह तब की बात है जब खदानों का सरकारीकरण नहीं हुआ था और वहाँ राजशाही चलती थी- कम्पनियों, ठेकेदारों और पहलवानों की मार्फत। लेखिका स्वयं मजदूर आंदोलनों का नेतृत्व और संचालन करती रही है, उसकी प्रामाणिक सूचना जगह-जगह उपन्यास में देखी जा सकती है, "लाइट का इन्तजाम नहीं था। ज़रूरत पड़ने पर डीज़ल में भीगी कपड़ा जलाकर रोशनी की जाती थी। सभी के सभी पीस-रेटिड- ठीका मजदूर थे। जितना खटते थे उतना ही पैसा पाते थे। दिहाड़ी की हिसाब नहीं। एक टन पर रेट तय था। सब को कचिया कोयला (बिना ब्लास्टिंग किए गैंती से जो कोयला काटा जाता है उसे कचिया कहते हैं) काटना होता था। मिट्टी-पत्थर का रेट चौका पर था। हूल मारना (पत्थर तोड़ने केलिए ब्लास्टिंग की खातिर बारूद भरने केलिए किए गए सुराख को हूल कहते हैं) भी उसी रेट में शामिल था। हार्ड-पत्थर और साफ्ट पत्थर का रेट अलग होता था, कोयले का अलग। फायर-क्ले भी इन खदानों में होती थी और पत्थर जैसी हार्ड मिट्ठी भी, जो बिना डायनामाइट के नहीं टूटती थी। पर टूटने पर चूर-चूर होकर बिखर जाती थी। इसका रेट इतना कम होता था कि परिवार का पेट पोसने लायक कमाने केलिए मजदूरों को 12 घण्टे तो अवश्य खटना पड़ता था।"[2]

कभी -कभी खदान के कर्मचारी कामिनों को लालच देकर अथवा उसके साथ घटी दुर्भाग्य पूर्ण घटनाओं से सहानुभूति रखकर भावनापूर्ण सम्बन्ध जोड लेते हैं

---

1. रूप सिंह चन्देल दस्तावेज़-88, जुलाई-दिसंबह-2000, पृ. 56.
2. रमणिका गुप्ता सीता पृ. 18

और उनका यौन-शोषण करने के साथ-साथ उनकी कमाई भी हडप लेते हैं। इसका ज्वलंत उदाहरण है यासीन का सीता के साथ निकाह करना। निकाह के बाद दोनों मिलकर पैसा इकट्ठा करते हैं और जमीन खरीदने, ट्रक खरीदने के सपने देखते हैं। यासीन कभी साड़ी ले आता तो सीता उसे डाँटती थी। वह पूरी कमाई यासीन को ही देती थी और वह सीता को घर चलाने का खर्च देकर बाकी सब खुद रख लेता था। इसके बीच दो संतान भी पैदा होते हैं जब पहले वाले बच्चे केलिए मैटरनिटी बैनफिट की बात करती है तो यासीन टाल देता है। जब दूसरी बच्ची जन्म लेती है तो यासीन की असलियत बाहर आ जाती है। सीता समझ लेती है, उसके साथ धोखा हुआ है। इस प्रकार यासीन ने न केवल सीता की कमाई हडप ली, दूसरा निकाह भी कर लेता है, लेकिन सीता सब का मांफ करती है और फिर एक साथ ही रहने लगते हैं। लेकिन जब तीसरा संतान लडका होता है तो यासीन शैतान का रूप धारण कर लेता है। वह अपनी बीवी के साथ मिलकर सीता एवं बच्चे को खाने में ज़हर देकर मारने का भी प्रयत्न करता है। लेकिन वह हारती नहीं उसमें असीम शक्ति आ जाती है और अपने साथ हुए अन्याय का यों जवाब देती है कि " साले भड़ए, दाढ़ी-जार जा, अपनी जोरू के ले के जा जा साले हमर घर से बाहर; आपन सब कमाई हम तोर पर ही झोंक देल है। और तू दोलों जन हमर के जहर खिलाय रहल ? एही बदला चुकाय है हमर जिन्दगी-भर सेवा के ? फिर पास पड़ा जूता उठाकर चार-पाँच जड़ दिया यासीन मियाँ के सर पर। पता नहीं उसमें यह शक्ति कहाँ से आ गई थी। उसने यासीन को चबूतरे से उठाकर नीचे पटक दिया। आसपास लोग उसे पकड रहे थे, पर वह काबू में न आ रही थी।"[1] खदानों में कामिनों के अटूट विश्वास तथा भावनापूर्ण सम्बन्धों की

---

1. रमणिका गुप्ता सीता पृ. 58

नियति अधिकतर या तो सीता की नियति की सी होती है अथवा एक रखनी की सी। कामिनों के विश्वास और प्रेम-सम्बन्धों का बदला वहाँ इसी प्रकार देने का रिवाज सा है। यह दीगर बात है कि उन आघातों से भी सीता टूटती नहीं, उसे किसी विवशता का अहसास नहीं होता, पर इस संबंध में लेखिका के द्वारा उठाये गये प्रश्न अत्यन्त मार्मिक हैं अपनी हत्या के प्रयत्न पर सीता की प्रतिहिंसा - जन्य प्रतिक्रिया अत्यंत स्वाभाविक कही जा सकती है, "ई सरवा को पाई-पाई जोड़ के देते। हमरा बेटा बड़ा होय के देखिहा। जमीन और ट्रक सब एकरा से ले लेतै। कोयलरी में एकरा जीना न हराम कर देवें तो हमार नाम सीता नाय। इकर के जिन्दा रख के मारब।"[1]

संघर्षरत वर्तमान सीता का प्रतीक

सीता में अदम्य साहस और अटूट आत्मविश्वास और जिजीविषा है और वह संघर्ष से पीछे नही हटती। सरकारीकरण के बाद मजदूरों की लडाई शुरू हो जाती है। सीता हर कहीं आगे ही है। यूनियन सीता को काफी महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपते थे, जैसे लोडिंग बंद करना, ड्यूटि चेक पोस्ट पर नियुक्त करना आदि। क़्यों कि रेट बढाने केलिए लड़ाई जरूरी हो गयी थी ताकि सब को प्रतिदिन स्थायी मजदूरों के बराबर कमाई हो सके। वह अपने धौड़े के लोगों को लेकर दिन-रात पहरा करती। ट्रक आते ही ढेले चलवाना शुरु कर देती थी। झाड़ियों में बच्चे छिपे रहते। शीशा टूटने पर गाड़ी वापस लेकर भागते। कुछ ट्रक आधे भरकर छोड़ दिए गए थे। वह न आधा कोयला लेकर जा सकते थे ना लदा कोयला अनलोड कर सकते थे, चूँकि उसके लिए मजदूर उपलब्ध नहीं थे। लेखिका ने उपन्यास में सीता को एक अतुल्य नारी नेता के रूप में प्रस्तुत किया है। " सीता हर लड़ाई में आगे रहती। धरना देना हो, घेराव करना

---

1. रमणिका गुप्ता सीता पृ. 59

हो, हड़ताल की मीटिंग करानी हो, ट्रक रोकने हों, वह सबसे आगे, बड़े से झण्डे पर बड़का-सा झण्डा लगाकर रहता। सीता की बहादुरी के चर्चे पूरे फील्ड में होने लगे। प्रोजेक्ट ऑफिसर को भी उससे बात करने में सोचना पड़ता। अब वह उसके तर्कों को ध्यान से सुनते।"[1] सीता सब के सब मानते हैं लेकिन यूनियन में कई लोग थे जो क्रांति की बात करते थे, पर अपनी संकीर्णताओं और रूढिगत मानसिकता की कंज उतार नहीं पाए थे। सीता को उच्च नेतृत्व में, बिहार के केन्द्रीय कमिटी में तो रख लिया पर जब यूनियन की केन्द्रीय कमिटी केलिए शाखाओं से नाम चुनकर माँगा गया तो किसी भी महिला का नाम चुनकर नहीं भेजा। सीता इन बारीकियों को नहीं समझती थी। सीता भी पद के महत्व को नहीं समझती थी। उपन्यासकार ने यहाँ स्त्रियों पर राजनीतिक क्षेत्र में हो रहे अन्याय की ओर इशारा किया कि योग्य नारी नेताओं को भी योग्यतानुसार स्वीकृति नहीं दी जा रही है। यहाँ खुद लेखिका आवाज़ उठाती है और बाद में सीता का नाम भेजा जाता है तथा अन्य कुछ और महिलाओं के नाम भी जोड लेते हैं।

यहाँ उपन्यासकार ने सीता के रूप में एक सशक्त आधुनिक नारी को प्रस्तुत किया है जो वर्तमान काल के नारी समूह केलिए प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने में सक्षम है। उसके अदम्य साहस, अटूट आत्मविश्वास और जिजीविषा ही उसे आगे ले जाती हैं और हर एक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं में साहस के साथ बिना हारे सफलता हासिल करती है। लेखिका ने यहाँ सीता को सर्वहारा वर्ग केलिए आधुनिक रावणों से लडने वाली के रूप में प्रस्तुत किया है। आज की सीता जूझती है हर रिश्ते से उम्र के हर मोड पर। उसने मौत से छीना है जिन्दगी को। सीता अब अपने से बाहर खडी सीताओं केलिए लडने लगी है।

---

1. रमणिका गुप्ता सीता पृ. 85

वर्तमान राजनीति में नारी का स्थान

विश्व में औद्योगिक युग के बाद स्त्रियों के हक का सवाल तब उठना शुरु हुआ जब उसे मानव होने के नाते एक समान आंका जाने लगा। भारत में आजादी के बाद संविधान ने स्त्रियों को वोट का समान अधिकार देने के साथ-साथ शिक्षा, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आदि सभी अधिकार तो दिए ही जो उसे समानता का दर्जा देते। लेकिन व्यवहार में ये प्रावधान पूरी तरह लागू नहीं हो पाए। सब कायदे-कानून कागजी बने रहे चूंकि समाज ने इन प्रावधानोंको मन से नहीं कबूला। जिन्हें ये सब लागू करना है चूंकि वह सब भी प्रायः मर्दवादी मानसिकता से ग्रस्त पुरुष ही हैं इसलिए पुरुष मानसिकता और पुरष अहंकार से वे ग्रसित हैं। अतः स्त्रियों के हित के प्रावधान ठंडे बक्से में डाल दिए गए। जहाँ स्त्रियाँ संघर्षरत हुईं वहीं उन्होंने कुछ हासिल भी किया। जहाँ एक तरफ देश की आजादी की लड़ाई और स्त्री-मुक्ति आन्दोलन के कारण उच्च और मध्यम-वर्गीय स्त्रियों ने कुछ अधिकार पाए, वहीं ट्रेड-यूनियनों तथा अन्य जन-संगठनों एवं राजनीतिक संगठनों के माध्यम से भी स्त्रियाँ संघर्षरत हुईं और समान मजदूरी पाने में कामयाबी हासिल की। हालाँकि यह भी सत्य है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, उन्हें सामाजिक समानता आज भी नहीं मिल पाई। ग्रामीण और सर्वहारा-वर्ग की स्त्रियाँ उतना हासिल नहीं कर सकीं जितना उन्हें प्राप्य था। सामाजिक बंधनों से तो शहर की स्त्रियाँ भी, चाहे वे किसी भी वर्ण या वर्ग की हों, अपने को मुक्त नहीं करा पाईं। फिर भी उनका एक प्रबुद्ध-वर्ग सतत् संघर्षरत रहा। ऐसे कुछ उदारमना पुरुष भी रहे हैं और आज भी हैं जिन्होंने स्त्रियों के मुक्ति-आन्दोलन की अगुवाई भी की लेकिन अधिकांश पुरुष स्त्रियों को समान अधिकार देने के सवाल पर विरोध करते रहे हैं। हालाँकि वे भी संविधान में प्रदत्त स्त्रियों के नाम पर राहत या सुविधा पाने केलिए अपनी

स्त्रियों को आगे कर देते हैं, उनकी आजादी केलिए जोर-शोर से बोलते भी हैं लेकिन अन्त तक वे उनकी डोर अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। जहाँ स्त्रियों ने डोर या लगाम अपने हाथ में थामी या थामने की कोशिश की वहीं उनका विरोध भी हुआ है। उनके खिलाफ सामाजिक शोषण, भयदोहन, चरित्र-हनन यहाँ तक कि हिंसक हथकंडे भी अपनाए जाने लगे हैं।

14 अगस्त 1998 को लोकसभा में स्त्रियों केलिए संसद और विधानसभा में 33 प्रतिशत आरक्षण का बिल लाया जाएगा-तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्द्र कुमार गुजराल ने यह घोषणा की थी। इस मुद्दे पर उन्होंने अपनी गम्भीरता और ईमानदारी प्रकट करते हुए अपने मन्त्रीमंडल में चार स्त्रियों को शामिल कर शुरुआत की। दरअसल लोकसभा के इससे पहले वाले सत्र में भी यह बिल विवाद के कारण पारित नहीं हो सका था। विवाद था कि स्त्रियों का आरक्षण लिंग के आधार पर हो या उनकी जाति, सामाजिक स्थिति व धर्म के अनुसार? लोकसभा में जो बिल पेश किया गया था वह स्त्री का स्त्री योनि में जन्म लेने के कारण जो भेदभाव बरता जाता है उसके आधार पर लाया जा रहा था। पितृ-प्रधान समाज में स्त्री को कमतर करके आंका ही नहीं जाता बल्कि सदियों से उसे मानव के मूलभूत अधिकारों से-जैसे स्वयं निर्णय लेने, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शिक्षा या व्यक्तिगत विकास करने अथवा रोजगार के लिए समान अवसर पाने आदि से -वंचित रखा गया है। स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता रहा है और वह दलितों की तरह ही परजीवी बना दी गई है।

संसद में स्त्री आरक्षण -वास्तविकता

वास्तव में लोकसभा में स्त्री आरक्षण के विरुद्ध हो रही सारी आवाज़ें स्त्रियों के 33 प्रतिशत आरक्षण को टालने केलिए मच रही हैं। प्रत्येक दल लोकसभा

में अपने ही दल की स्त्रियों को एक दूसरे के खिलाफ शिखंडी बनाकर खडा कर रहे हैं, "उमा भारती को आगे रखकर सुषमा स्वराज पर निशाना साधना दरअसल भाजपा का आरक्षण पर ही प्रहार है। ये वही उमा हैं जो हिन्दूराज का डंका पीटते हुए मुसलमानों को देश छोडकर भाग जाने केलिए कहती रही हैं और नगरों को दंगों की शक्ल में बदल देती रही हैं। उस वक्त भी वे इस तथ्य से परिचित थीं कि मुस्लिम सभा, खासकर मुस्लिम औरतें अत्यधिक पिछडी होती हैं पर तब उनके अधिकारों की या सुरक्षा की चिन्ता नहीं हुई। "[1] वास्तव में ये लोग डर रहे हैं कि अगर 33 प्रतिशत आरक्षण हो जाय तो कहीं औरतों के वोटों का ध्रुवीकरण न हो जाए और लोकसभा में कहीं वे पार्टियों की सीमा तोडकर पुरुष वर्चस्व के खिलाफ एक हो गईं तो ये एक सौ अस्सी औरतें पुरषों पर कहर न ढा दें। इसलिए वे अपनी बर्बादी का बिल कैसे पास होने देंगे? इन्हें डर हैं कि कहीं मायावती जैसी हठी और दृढ संकल्पी औरतें जीतकर आ गई तो वे अल्पमत में होकर भी इनकी एक न चलने देंगी। सबकी कुर्सियाँ छिन जाएँगी। वे सत्ता का पलड़ा झुकाने और उठाने में सक्षम सन्तुलन का पासंग ही नहीं बन जाएँगी बल्कि स्वयं सत्ता पर काबिज हो जाएँगी। फिर किसी पुरुष सांसद द्वारा पतियों के रोजगार के लिए आवेदन लेकर आई हुई स्त्रियों का दैहिक शोषण भी नहीं हो पाएगा । जिस प्रकार मंडल कमीशन के आरक्षण के कारण असंख्य पिछडों, दलितों की मानसिकता में परिवर्तन आया और वे अपने हकों के प्रति सचेत हो कर सत्ता में भागीदारी का सपना पालने लगे उसी तरह औरतों के आरक्षण का बिल पारित होने पर औरतों की मानसिकता में तो भारी परिवर्तन आएगा ही, साथ ही साथ पुरुष वर्ग की मानसिकता भी बदलेगी। एक आत्मविश्वास पैदा होगा औरतों में और पुरुषों में बर्दाश्त

---

1. रमणिका गुप्ता स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने पृ. 32

करने की प्रवृत्ति पनपेगी-औरतों के प्रति वह शुरू में सहिष्णु होने को मजबूर होगा बाद में वह उसे अपनी आदत बना लेगा। इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी स्त्री पुरुष के समान अधिकार केलिए लड रही है। यह लडाई वास्तव में उसकी अस्मिता की पहचान का परिणाम है। नारी मुक्ति आन्दोलन में दर असल नारी को अपनी हक से अवगत कराया तो दूसरी ओर पुरुष को एक पुनःचिंतन केलिए विवश कर डाला। गोया कि नारी का आन्दोलन पुरुष के ऊपर अपने वर्चस्व स्थापन केलिए नहीं बल्कि अपने वाँछित अधिकार एवं अस्मिता को हासिल करने केलिए है। इसका नज़रअन्दाज़ करना निस्सन्देह बेवकूफी ही निकलेगा।

.....🕮.....

पांचवाँ अध्याय

दलित साहित्य और राजनीतिक चेतना

पांचवाँ अध्याय

दलित साहित्य और राजनीतिक चेतना

दलित साहित्य को लेकर बहस जारी है। समकालीन सन्दर्भ में ही दलित साहित्य की चर्चा ज़ोर पकडती है। क्यों कि यह एक आन्दोलन है। निस्सन्देह दलित साहित्यकारों द्वारा चलाया गया आन्दोलन है। इसके मूल में अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान है। उन्होंने समझ लिया कि जो संस्कृति, भाषा, पुराण, इतिहास, रीति रस्म सर्व स्वीकृत हैं वे अपने नहीं हैं। वे सब समाज के उच्च वर्ग याने सवर्णों के हैं जिन्हें उनके ऊपर धोप दिए गए हैं। इसलिए उन्होंने पहचान लिया कि अपना कुछ जो इस सवर्ण संस्कार के दबाव में दब गए हैं, खो गए हैं, उन्हें पुनः पहचानना, ढूँढ निकालना, बाहर लाना अपना फर्ज़ है। इसकेलिए अलग ढंग का संघर्ष अनिवार्य है। इसका परिणाम है दलित साहित्य। वे अपने इस अलग साहित्य के ज़रिए अपने संस्कार, इतिहास, रीति-रिवाज, भाषा आदि को पुनःस्थापित करने का जोखिम भरा काम अपने कंधों पर ले लेते हैं। इसका परिणाम है समकालीन सन्दर्भ का दलित साहित्य जो दलितों द्वारा दलितों की अस्मिता को पुनः स्थापित करने का उपक्रम है। लेकिन दूसरा एक तर्क भी वर्तमान है कि दलितों के जीवन को लेकर लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य है। इसमें रचनाकार का दलित होने की ज़रूरत नहीं। पर इस तर्क का दलित साहित्यकार मानने केलिए तैयार नहीं। उनके मत में ये दलित साहित्य कहने योग्य नहीं है क्यों कि "भारतीय समाज व्यवस्था ने दलित जीवन और

उनकी जिजीविषा की दुग्धताओं से यदि अपरिचित है तो वह आश्चर्यजनक नहीं है, बल्कि इस व्यवस्था का ही परिणाम है। जब वे इस जीवन की सच्चाईयों को जानते ही नहीं है तो उस पर जो भी लिखेंगे वह केवल बाह्य चित्रण होगा। जो सहानुभूति और करुणा से उपजा हुआ होगा। न कि किसी बदलाव या संताप की आकांक्षा से।"[1] रमणिका गुप्ता ने इस मंतव्य का समर्थन करते हुए कहा, "दलित साहित्य अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है। बाबा साहब के विचारों से दलित को अपनी गुलामी का एहसास हुआ उनकी वेदना को वाणी मिली, क्यों कि उस मूल समाज को बाबा साहब के रूप में अपना नायक मिला। दलितों की वह वेदना दलित साहित्य की जन्म दात्री है। दलित साहित्य की वेदना 'मैं' की वेदना नहीं, वह बहिष्कृत समाज की वेदना है।"[2]

साहित्यिक गोष्ठियों में यह प्रश्न चर्चा और विवाद का विषय बना हुआ है कि गैर दलित लेखक दलितों के जीवन पर उपन्यास लिखने के आधिकारी हैं या नहीं । यह सही बात है कि दलित समाज जिस नारकीय जीवन का भोक्ता है, वह किसी गैर दलित केलिए प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं हो सकता। दलित साहित्य के समर्थकों का मानना है कि गैर दलित लेखक दलित वर्ग को अधिक से अधिक सहानुभूति दे सकते हैं, उससे तादात्मय का अनुभव नहीं कर सकते। इसी बात का समर्थन करते हुए ओम प्रकाश वाल्मीकि कहते है कि "कई विद्वानों, रचनाकारों आलोचकों का मत है कि दलितों पर लिखने केलिए दलित होना ज़रूरी नहीं है।

---

1. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित पीडा की अभिव्यक्ति पहल - 61, अप्रैल - जून 1999 पृ 157
2. रमणिका गुप्ता दलित साहित्य की परिभाषा और सीमाएँ, वसुधा -58, पृ 325

उनका तर्क है कि घोडे पर लिखने केलिए घोडा होना जरूरी नहीं है। लेकिन दलित लेखक इस तर्क से सहमत नहीं हैं। घोडे की पीढी को समझे बगैर, उसका बाह्य चित्रण उसकी भावनाओं का काल्पनिक रेखांकन ही होगा। थका मांदा, भूखा- प्यासा घोडा अपने मालिक के प्रति क्या भाव दिखाता है इसे सिर्फ घोडा ही बता सकता है।"[1] दलित साहित्य पर नामवर सिंह का विचार द्वन्द्वात्मक प्रतीत होता है।"दलित होना एक व्यक्ति की ऐसी हकीकत है, कि जन्मना दलित होने के कारण अनुभव के जिन आसंगों से एक आदमी को गुज़रना पडता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं दलित को जैसा है, अपनी पूरी अनुभूतियों व कल्पना का विस्तार करने के बावजूद 'मैं, जो एक गैर दलित हूँ।' उस अनुभव को उसी तीव्रता और तनाव से आप को अनुभव नहीं करा सकता।"[2] यह कथन उन्होंने एक साक्षात्कार में दिया था लेकिन अगले ही क्षण उनका अंतर्विरोध भी उभर आता है। वे कहते हैं कि कोई लेखक दलित कुल में जन्म लेने से ही दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता है, जन्मना दलित ही दलित चेतना का प्रतिनिधि होगा, दूसरा कोई नहीं, गलत है। जय प्रकाश कर्दम की राय में "परम्परागत हिन्दी साहित्य इस तरह की कृतियों से सर्वथा शून्य है, जिनमें पद दलित और उपेक्षित लोगों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण के सार्थक विरोध तथा प्रस्तावित व्यवस्थाओं का खण्डन और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास हो। इसकी एक खास वजह है कि दलित-साहित्य दलितों के अपने भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। गैर दलितों ने वह सब नहीं भोगा है जो

---

1. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित पीडा की अभिव्यक्ति पहल- 61 , अप्रैल - जून 1999 पृ :159
2. वही पृ 160

दलितों को भोगना पडा है। इसलिए अपनी बात को जिस तल्खी या प्रामाणिकता से दलित साहित्यकार कह सकता है, गैर दलित साहित्यकार नहीं कह सकता।"[1] दिल्ली के वरिष्ठ पत्रकार एवं दलित साहित्य के विद्वान मोहन दास नैमिशराय के शब्दों में "दलित साहित्य यानी बहुजन समाज के सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य।"[2] इस प्रकार दलित साहित्य के बारे में दलित एवं गैर दलित साहित्य कारों का विचार अलग अलग दृष्टिकोण दर्शाते हैं। इनमें से किसी एक बिन्दु पर पहूँचना कोई आसान कार्य नहीं है।

दलित साहित्य से मतलब

यहाँ एक बात तो स्पष्ट हो उठती है कि एक परिभाषा का आधार जाति है और दूसरे का आधार गैर जाति। यह भी स्पष्ट है कि एक दलित का है तो दूसरा दलितों केलिए है। याने कि एक जातिगत होता है दूसरा उद्देश्यगत। यहाँ समस्या यह है कि क्या साहित्य को जाति के आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिए या नहीं। यदि ऐसा मान लिया जाए तो वह साहित्य जो गैर दलितों द्वारा लिखा गया है, दलित साहित्य नहीं हो सकता। दरअसल साहित्य के क्षेत्र में जाति के तहत उसको परिभाषित करना समीचीन नहीं है। पर सन् सत्तर-अस्सी के समय हिन्दी साहित्य में जिस दलित आन्दोलन की शुरुआत हुई उसको दलित साहित्य ही मानना चाहिए और समकालीन साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में भी मानना अनिवार्य है। क्यों कि यह एक शक्ति शाली आन्दोलन है जिसका नज़र अन्दाज़ करना नामुमकिन है। वास्तव में दलित साहित्य की शुरुआत सन् साठ के दशक में महाराष्ट्र में हुई थी

1. जय प्रकाश कर्दम : हिन्दी लेखन में दलित चेतना : पृ.2. (प्रकाशित हस्तक्षेप राष्ट्रीय सहारा, 18, जून - 1997)

2. प्रज्ञा साहित्य दलित साहित्य विशेषांक: पृ 31

दलित आन्दोलन के साथ ही। याने कि मराठी भाषा में दलित साहित्य का प्रादुर्भाव दलित आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ था। वहाँ आन्दोलन बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में हुआ था। पर आधुनिक भारत में इसका आरंभ महात्मा ज्योतिभा फूले से होता है। इस देश में दलित आन्दोलन की एक ऐतिहासिक परंपरा है जो भिन्न भिन्न नामों एवं रूपों में प्राचीन काल से चलती आ रही है। यह आन्दोलन उतना ही पुराना है जितना कि वर्णाश्रम व्यवस्था। क्यों कि यह आंदोलन इस व्यवस्था के खिलाफ शुरु हुआ था। इसलिए इसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। दलित साहित्य का संबंध इसी ऐतिहासिक दलित आन्दोलन से है। वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध का यह ऐतिहासिक आन्दोलन आधुनिक युग में दलित आन्दोलन नाम से अभिहित हुआ। लेकिन यह आन्दोलन अपने पूर्ववर्ती आन्दोलनों से थोडा भिन्न् है। इसलिए कि यह अपने स्वरूप में आधुनिक है। इसके साथ आधुनिक भावबोध जुडा हुआ है। पर इसकी मूल चिंता और चरित्र वही है। अर्थात् वर्णाश्रम समाज व्यवस्था की जगह एक नई मानवतावादी समाज व्यवस्था का निर्माण ही उसका लक्ष्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के तहत सृजनात्मक कार्य भी संपन्न हुआ। वही दलित साहित्य है। इस प्रकार दलित साहित्य का संबंध दलित आन्दोलन से है। अतः प्रवृत्तिगत मानदण्डों के तहत यदि दलित साहित्य को परिभाषित करने की कोशिश की जाय तो शायद थोडा और न्याय संगत लगेगा। इस दृष्टि से देखें तो हम कुछ निष्कर्षों पर पहूँच सकते हैं जैसे

1. दलित साहित्य, दलित आंदोलन का हिस्सा है। इसलिए इसका चरित्र आन्दोलनकारी है। यह आन्दोलन दलित अस्मिता का आन्दोलन है और दलित साहित्य उसकी एक कडी।

2. दलित साहित्य की रचना केवल दलित ही कर सकते हैं गैर दलित नहीं। गैर दलित, दलित साहित्य का सहयोगी साहित्य लिख सकते हैं। लेकिन दलित साहित्य नहीं।

3. दलित साहित्य की रचना केलिए एक दलित को अपनी परंपरा एवं इतिहास का सही बोध होना परम आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यही है कि उसका संबंध दलित अस्मिता के इतिहास बोध, वर्तमान की समझ और भविष्य के प्रति उसकी दृष्टि से है।

4. अम्बेडकर एवम् उनके चिन्तन को इस साहित्य का प्रेरणा स्रोत बनाना चाहिए।

दलित साहित्य का समर्थक साहित्य

दलितों के समर्थन में लिखा गया गैर दलितों का साहित्य दलित साहित्य का समर्थक साहित्य है। वह साहित्य ही सबसे ज्यादा समर्थक साहित्य हो सकता है जिसमें वर्णाश्रण व्यवस्था की अमानवीयता के भोगे हुए यथार्थ की अनुभूति के साथ दलितों के द्वारा भोगी गई पीडा की स्वाभाविक अनुभूति की अभिव्यक्ति हो। साहित्य का परम लक्ष्य या उद्देश्य मानवता की रक्षा करना है। अर्थात् उनके साथ खड़ा होना है जो सर्वाधिक अमानवीयता के शिकार हैं। गैर दलित साहित्यकार इस तरह का साहित्य लिख सकते है और उन्होंने लिखा भी है। इसलिए इनके पक्ष में लिखे गये साहित्य और इनके द्वारा लिखे गये साहित्य में काफी अन्तर है। अब दूसरा पहले से अधिक विश्वसनीय, प्रामाणिक और संगत लग रहा है। इस दृष्टि में पहले वाला दूसरे का सहयोगी होना न्यायसंगत एवं उचित होगा। याने कि गैर दलितों द्वारा दलितों

से सम्बधित लिखा गया साहित्य अगर दलित अस्मिता को मज़बूत करने में सहायक होता है तो वह दलित साहित्य का सहयोगी साहित्य है।

दलित साहित्य का उद्देश्य

गोया कि दलित साहित्य दलितों द्वारा दलितों केलिए लिखा गया साहित्य है। वह दलित आन्दोलन का हिस्सा है, जिसका उद्देश्य है वर्णविभक्त समाज व्यवस्था के मूल्यों एवं दर्शनों का विरोध तथा इसके बरकस एक नये विकल्प का निर्माण। इस स्थिति में ही दलित मुक्ति संभव है। वर्णविभक्त समाज व्यवस्था मानवता का सबसे बडा शत्रु है। इसकी नींव असमानता पर अवस्थित है। शोषण अन्याय और अत्याचार इसके मूल में हैं। आधुनिक मानवीय मूल्यों स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व, लोकतंत्र, विज्ञानवाद, विवेकवाद आदि का यह व्यवस्था घोर शत्रु है। इसलिए दलित आन्दोलन का इस व्यवस्था के प्रति विरोध का मतलब उस मानव जाति की मुक्ति का उद्देश्य है जो इससे त्रस्त हैं। दलित आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य दलित मुक्ति ही नही, मानव मुक्ति है। यहीं दलित साहित्य का उद्देश्य साहित्य के व्यापक उद्देश्य से जुडता है। इसलिए यह कथन अनुचित न होगा कि दलित साहित्य दलितों केलिए हैं अंततः मानवता के लिए।

दलित आन्दोलन

जाति व्यवस्था भारतीय समाज की एक सच्चाई है। यह कोई इनकार नहीं कर सकता। दलितों की भूमिहीनता, गरीबी यहाँ तक कि अशिक्षा के मूल में भी जाति का चिन्तन है। जाति ब्राह्मणवादी सामन्ती व्यवस्था का मुख्य आधार है। इसी

आधार पर दलित सामाजिक और आर्थिक शोषण के शिकार हुए हैं। इस में कोई संदेह नहीं है कि वर्णव्यवस्था पर चोट करके ही सामाजिक समता हासिल की जा सकती है। परन्तु यह आर्थिक समता का भी निदान है यह समझना भूल होगी। दलितों की आर्थिक मुक्ति केलिए भूमि की राष्ट्रीयकरण की जरूरत है। शिक्षा और उद्योग के क्षेत्र में राष्ट्रीय समाजवाद की ज़रूरत है। वास्तव में दलित आंदोलन दलित मुक्ति का आंदोलन है। लेकिन दलित आंदोलन का यह दुर्भाग्य है कि वह भारत में डॉ. अम्बेडकर के बाद किसी सशक्त हाथों में संभाला नहीं गया। सिर्फ सत्ता की राजनीति तक सीमित रह गयी। कम्यूनिज्म के बारे में दलितों का गलत विचार है। उन केलिए कम्यूनिज्म का अर्थ है एक ऐसी व्यवस्था जो अन्ततः वर्ण व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष को कमजोर करती है। एक ऐसी व्यवस्था जो जाति का सवाल नहीं उठाती। एक ऐसी व्यवस्था जो अधिनायकवादी है और रक्तिम क्रान्ति में विश्वास करती है। दलित आंदोलन की सफलता केलिए वामपंथी आर्थिक सिद्धांतों को ग्रहण कर सकते है, क्यों कि दलित आंदोलन का लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन के साथ आर्थिक मुक्ति का भी है। सिर्फ जाति चेतना पर आधारित दलित आन्दोलन अधूरा आन्दोलन है। वर्गीय चेतना की भी जरूरत है। ताकि वह पूर्ण क्रांतिकारी होगा। दलित आंदोलन को एक ऐसे संघर्ष में बदलना होगा जिसका लक्ष्य सत्ता प्रतिष्ठान नहीं, बल्कि जाति और वर्गविहीन समाज का निर्माण हो।

दलित चेतना

दलित चेतना मूलतः वर्ण व्यवस्था के तहत जारी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दमन के प्रतिरोध और प्रतिकार की चेतना है। प्रतिरोध का आशय है उस यथास्थितिवादी

व्यवस्था को आदर्श मानने से इनकार करना, जो सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर पर मानवीय गरिमा के भौतिक विकास के अवसरों को सबकेलिए सुलभ नहीं होने देना चाहती। प्रतिकार का आशय है सदियों के सामाजिक अपमान और उत्पीड़न को अपनी नियति मानने से इनकार करते हुए अपने सामूहिक 'स्व' के पक्ष में लड सकने की क्षमता अर्जित करना। दलित साहित्यकारों के अनुसार दलित साहित्य दलित अनुभवों की अमूल्य निधि है। यह उनका सार सर्वस्व बना हुआ है। दलित मन ने जो देखा, सोचा, जाना, पहचाना, भोगा, अनुभव किया, उन सबका कभी उत्कटता से तो कभी कोमलता से इस साहित्य में अंकन हुआ है। अतः यह साहित्य दलित समाज के समूह मन का दर्पण है। दलित साहित्य आज के दलित मन का आलेख, दस्तावेज़, गाथा, हथियार, प्रतीक बना हुआ है। इस पर अन्य किसी का अधिकार स्थापित न होने देने केलिए यह साहित्य विशेष रूप से जागरूक है। इसके साथ साथ अपने घुटन को व्यक्त करना, दलित वर्ग पर आज तक हुए अन्याय को वाणी देना, इस संदर्भ में सुशिक्षित अदलित वर्ग को चिढ़ाना, जागृत करना, उसके मन में पश्चाताप की भावना उत्पन्न करना दलित साहित्य के प्रमुख प्रयोजन हैं। यह साहित्य एक सर्वव्यापी क्रांति का आवाहन भी करना चाहता है। उसमें वेदना, विद्रोह, प्रतिकार तथा प्रतिबद्धता का तीव्र एवं तीक्षण भाव भी मिला हुआ है। दलित चेतना का रूप एक प्रकार से लहु, पसीने, और आँसू का एक विशेष रसायन है। इसमें अंतर्मुखता की अपेक्षा बहिर्मुखता का अंश अधिक है। उसके रंग भडकीले हैं। दलितोद्धार केलिए आवाज़ बुलन्द करने वाला साहित्य है। जिससे दलित जागरण की चेतना जागृत होता हो, वही दलित साहित्य का मकसद है।

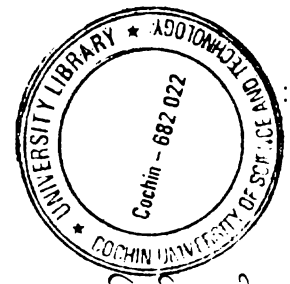

दलित साहित्य का लक्ष्य

दलित साहित्य का एक विशेष लक्ष्य है। वह उस यथास्थितिवादी व्यवस्था का इनकार करता है। वह सदियों के सामाजिक अपमान और उत्पीडन को अपनी नियति मानने से इनकार करते हुए अपने अस्तित्व केलिए व्यवस्था से लडाई करने की क्षमता अर्जित करता है। यह विद्रोह से ही संभव है। अतः दलित साहित्य विद्रोह का साहित्य है। विद्रोह यानी द्वेष, विद्रोह यानी शत्रुता, विद्वेष याने विप्लव। दलित साहित्य एक ओर वंचना के कारण होने वाली हृदय विकीर्ण यातनाओं को उद्‌गार प्रदान करता है तो दूसरी ओर जिस सामाजिक व्यवस्था ने दलित पर यह जीवन थोप दिया है उस के प्रति विद्रोह एवं शत्रुता को व्यक्त करता है। दलित साहित्य हिन्दू समाज व्यवस्था पर प्रखर आघात करता है। वह हिन्दु विश्वासों पर प्रहार करता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व का उद्‌घोष करता है। दलित साहित्य जाति व्यवस्था को नष्ट करना चाहता है, सामाजिक विषमता का उन्मूलन करना चाहत्ता है। वह सामाजिक परिवर्तन चाहता है। दलित साहित्य की प्रारंभिक अवस्था में कम से कम दलित लेखकों को निःसन्देह ऐसा लगा होगा कि साहित्य न केवल मानवीय अनुभवों का निवेदन अथवा प्रकटीकरण है बल्कि उसे समाज को क्रांति` तक ले जाने में सक्षम भी होना चाहिए। यही दलित चेतना की कामना है।

दलित साहित्य में राजनीतिक चेतना

साहित्य में शाश्वत मूल्य और सामयिक मूल्य दोनों का समावेश अनिवार्य है। समसामयिक सन्दर्भ के अनुसार कुछ नए मूल्यों का पतन भी अनिवार्य बनता है। यह नई व्यवस्था का मूल्य है जो साहित्य का भी है। नई व्यवस्था में जिस

मूल्य की आकांक्षा है वह राजनैतिक आन्दोलन से ही संभव हो सकती है। इस दृष्टि से दलित साहित्य राजनैतिक आन्दोलन का सहयोगी साहित्य होता है। इसलिए जिस तरह के परिवर्तन केलिए राजनैतिक नेतृत्व का सर्वहारा वर्ग के हाथ में होना ज़रूरी है उसी तरह साहित्य का नेतृत्व भी सर्वहारा वर्ग के हाथ में होना चाहिए। दलित राजनैतिक आन्दोलन और दलित साहित्य का प्रादुर्भाव इसी संदर्भ में हुआ है। आगे की सामाजिक क्रांति इसी दृष्टि से होनी चाहिए। इस केलिए दलित साहित्य महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

वर्तमान शासन व्यवस्था में दलितों की राजनीतिक स्थिति

सन् 1980 में मंडल आयोग की रपट के आने के एक दशक पूर्व ही दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद विरोधी आन्दोलन संपन्न हो चुका था। वहाँ की उच्च जातियों का सामाजिक वर्चस्व कम होने लगा और शूद्र कही जाने वाली जातियाँ समाज में अपना वर्चस्व स्थापित करने लगीं। पिछडे वर्ग के रूप में मंडल आयोग ने जिन जातियों को शामिल किया था उनमें से निन्यानवे प्रतिशत से अधिक जातियाँ शूद्र वर्ग की थीं। प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था में शूद्र वर्ग के अन्तर्गत सभी पिछडी गैर दलित जातियाँ आती थी। लेकिन अछूत समझी जानेवाली जातियों को उस व्यवस्था से बाहर रखा गया था। दक्षिण भारत में सत्ता में आने के बाद कुछ शूद्र जातियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति में वांछित सुधार होने के कारण इन्हें मण्डल आयोग में शामिल नहीं किया गया। वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्र कही जाने वाली जातियाँ उत्पादन और सेवा कार्य से जुडी थीं। पर इस व्यवस्था में इन्हें पूर्ण नागरिक होने का दर्जा भी प्राप्त नहीं था। आज दक्षिण एवं पश्चिम भारत में सामाजिक,

राजनीतिक और आर्थिक सत्ता पर इनका वर्चस्व स्थापित हो चुका है। इस क्षेत्र में शूद्र कही जाने वाली जातियाँ उच्च जातियों के समकक्ष ही नहीं आईं बल्कि उनके सामाजिक वर्चस्व को भी तोड चुकी हैं। दक्षिण भारत में कुछ प्रभावशाली शूद्र जातियों का राजनीतिक उत्थान तभी हुआ जब वे सामाजिक रूप से सुदृढ बन चुकी थी। परिणामस्वरूप इन जातियों की राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति उच्च जातियों को सत्ता से बर्खास्त करने तथा उसकी जगह अपने को स्थापित करने के रूप में हुई। पर खेद की बात यह है कि ब्राह्मणवाद विरोधी आन्दोलन की परिणति कुछ शूद्रों को क्षेत्रित्व प्राप्त करने के रूप में हूई। ब्राह्मणवाद विरोद के बजाय यह मात्र ब्राह्मण विरोध के रूप में रह गया। क्यों कि ब्राह्मणों को सत्ताच्युत करने के बाद भी एक तरह का ब्राह्मणवाद वहाँ कायम रहा। आज उत्तर भारत में जाट, लोध, यादव, कुर्मी गूजर आदि का राजनीतिक उत्थान प्रगति पर है। दक्षिण भारत में भी उच्चजातियों के राजनीतिक संघर्ष काफी प्रभावी ढंग से उभर आ रहे हैं। दक्षिण भारत में दलितों के कई राजनीतिक दल अपने राजनीतिक संघर्ष का कार्य शुरू कर चुके है। केरल में दलित गोत्र महा सभा, अय्यंकाली पडा जैसे दलित राजनीतिक दल समाज में अपना स्थान निर्धारित कर चुके हैं।

गैर दलित साहित्य की पृष्ठभूमि

हम ने देखा कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। अतः दलितों के बारे में गैर दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को सिर्फ सहयोगी साहित्य के रूप में आंकना पडता है। यह तो सुविदित बात है कि प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों से लेकर अब तक दलितों के दर्द, दरिद्रता, दीनता दमन, शोषण,

अत्याचार आदि पर रचनाएँ हुई हैं और होती आ रही हैं। "हिन्दी नवजागरण के दौरान हिन्दी साहित्य में जिस तरह तमाम साहित्यिक कलात्मक आन्दोलनों का उद्‌भव एवं विकास हुआ, उस तरह का हिन्दी में दलित साहित्य का कोई स्वरूप निर्मित व विकसित नहीं हो पाता। लेकिन स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी साहित्य में गैरदलितों द्वारा सृजित साहित्य में दलित चेतना का जो स्वरूप कमोवेश निर्मित होता दिखाई देता है, उसका विकास स्वतंत्रता पश्चात हिन्दी दलित लेखन में देखा जा सकता है।"[1] आज़ादी के बाद भैरव प्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जमींदारों द्वारा दलित वर्ग के पात्रों के आर्थिक एवं दैहिक शोषण को गहरी सहानुभूति और वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ अंकन किया है। नागार्जुन के 'बलचनमा' का बलचनमा और 'वरुण के बेटे' के मछुवारे पात्र दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं और वे अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा भी उठाते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपना उपन्यास 'रथ के पहिए' में मध्य प्रदेश की गोंड जनजाति के जीवन यथार्थ का संवेदनापूर्ण चित्रण किया है। फणीश्वर नाथ रुणु ने भी 'मैला आँचल' में पूर्णिया अंचल के दलित जीवन के चित्रण में गहरी संवेदनशीलता का परिचय दिया है। सहानुभूति के साथ साथ रेणु ने इस में दलितों, आदिवासियों द्वारा उच्च जातियों के खिलाफ के विद्रोह का भी चित्रण किया है। इसी प्रकार उदयशंकर भट्‌ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' में मुम्बई महानगर के पश्चिमी तट पर स्थित बरसेवा के मछुआरों की जिन्दगी का मार्मिक चित्रण किया है।

---

1. दुर्गा प्रसाद गुप्त दलित चेतना के हज़ार वर्ष एक साथ ; कदम, जुलाई-अक्तूबर, पृ. 58

एक पूरी दलित जाति के जीवन यथार्थ को उपन्यास का विषय बनाने का श्रेय रांगेय राघव को ही है। उन्हों ने 'कब तक पुकारूँ' में करनट कबीलों के जीवन के अनेक पक्षों उनकी निर्धनता, जीवनमूल्य, और संस्कृति, ब्रिटीश शासन में उपेक्षित जीवन जीने की विवशता, पुलिस के अत्याचार, स्त्रियों के यौन शोषण आदि का मार्मिक अंकन किया है। जगदीशचन्द्र के 'धरती धन न अपना' और 'नरक कुंड में बास' में स्वाधीनता के पूर्व के पंजाब की ग्रामीण पृष्ठभूमि में गहरी संवेदना और कलात्मक तटस्थता के साथ दलित जीवन की कथा प्रस्तुत की गयी है। इस उपन्यास में दलितों की नारकीय जीवन-स्थितियों और उच्चवर्गीय समाज द्वारा उनके शोषण और दमन का यथार्थ चित्र उपलब्ध होता है। उपन्यासकार ने सदियों की गुलामी से उत्पन्न दलितों की मानसिकता और हीनता से ग्रस्त चेतना का विश्वसनीय अंकन किया है। गोपाल उपाध्याय का 'एक टुकडा इतिहास' भी दलित जीवन के आधार पर लिखा गया है जिस में उपन्यासकार ने चुनली नामक एक दलित युवति को केन्द्र बनाकर, एक ब्राह्मण युवक से प्रेम विवाह कर दलित जाति के अभिशाप से मुक्ति कराने की कोशिश-तथा उसकी असफलता को दर्शाया है। लेकिन वह हार नहीं मानती और अपनी संघर्ष क्षमता का परिचय देती हुई 'चन्दा देवी' में रूपांतरित होकर दलित समाज के उत्थान केलिए लडते हुए सवर्ण समाज को चुनौती दैती है। शैलेष भटियानी का 'सर्पगन्धा' में पर्वतीय क्षेत्र के दलित समाज को प्रस्तुत किया है जो अपने अधिकार की लडाई लड रहा है। इस उपन्यास में दलितों के संघर्ष और उससे जुडे आरक्षण के प्रश्न पर भी बहुत ही विवेक पूर्ण एवं निर्भीक चिंतन का परिचय दिया है।

दलित जीवन के चित्रण की दृष्टि से अमृतलाल नागर का 'नाच्यो बहुत गोपाल' एक अत्यंत उल्लेखनीय उपन्यास है जिसमें भंगी जीवन की नारकीय वास्तविकताओं का अंकन किया गया है। भंगी जाति की ऐतिहासिक वास्तविकता यह है कि युद्धों में विजयी जाति पराजित जाति को भंगी का काम करने केलिए विवश करती थी। इस प्रकार गिरिराज किशोर द्वारा लिखित 'यथाप्रस्तावित' और 'परिशिष्ट' में सामाजिक उत्पीडन और क्रूरता के शिकार तथा प्रशासनिक एवं शैक्षणिक व्यवस्था के अमानवीय ढांचे में पिसते छटपटाते दलित वर्ग का चित्रण किया गया है। सदियों से सवर्णों के शोषण, दमन और घृणा का शिकार यह वर्ग यद्यपि अपने अधिकारों केलिए संघर्ष कर रहा है पर आज भी सामाजिक और आर्थिक शोषण तथा सवर्णों की उपेक्षा और उत्पीडन का शिकार है। 'परिशिष्ट' में भी यही विषय एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। संविधान द्वारा शिक्षा में आरक्षण की सुविधा उपलब्ध कराने से अनुसूचित जातियों के छात्रों को तकनीकी संस्थाओं में प्रवेश संभव हो गया था पर उच्च वर्ग की परम्परागत मानसिकता, जातिगत दम्भ और दलित विरोधी प्रच्छन्न वातावरण के कारण उन्हें अब भी त्रासद स्थितियों से गुजरना पड रहा है जो नितांत अमानवीय है।

गोया कि समकालीन सन्दर्भ में दलित साहित्य दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य है जिसमें अपनी अस्मिता की पहचान का प्रतिपादन हुआ है। अपने भोगे हुए सामाजिक यथार्थ की तीव्रता को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने में यह साहित्य सफल निकला है। यद्यपि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो साहित्यिक सौष्ठव की कुछ कमी दिखाई देती तो है तथापि दलित जीवन यथार्थ के अन्दरूनी पर्तों को

खोलकर रखने में यह साहित्य कामयाब अवश्य हुआ है। इस दृष्टि से समकालीन दलित उपन्यासों का विश्लेषण आगे किया जाएगा जिससे दलित जीवन यथार्थ के बहुत सारे अनदेखे एवं अनछुए पहलुओं से सीधा साक्षात्कार संभव हो जाएगा।

छप्पर

जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' एक परिवर्तनकामी उपन्यास है। इस उपन्यास को पहला दलित उपन्यास माना जा सकता है। क्योंकि यह एक दलित उपन्यासकार द्वारा लिखा गया उपन्यास है और इस में दलित चेतना की अभिव्यक्ति दर्शनीय है। इस उपन्यास की कथावस्तु एक मज़दूर परिवार के युवक चन्दन की शिक्षा के लिए जद्दोजहद की कहानी है, जिसमें उसकी माँ रमिया और पिता सुक्खा को गाँव के ब्राह्मणों, बनियों और ठाकुरों द्वारा मिलकर उत्पीड़ित किया जाता है कि वह सदियों से चली आ रही परंपराओं को तोड़कर अपने लडके को शहर में पढने क्यों भेज रहा है? इससे समाज के उच्चवर्गीय लोगों की नाक कट जाएगी। लेकिन चन्दन के परिवार वाले इन दबाओं के सामने झुकने को तैयार नहीं थे। इसके परिणाम स्वरूप उसे बेघर होना पडता है। सुक्खा का एकमात्र सपना है कि बेटा पढ-लिख कर बडा आदमी बन जाए। इसकेलिए वह कुछ भी करने को तैयार है। वह अपनी पत्नी से कहता है, "तुझे मेरी चिन्ता लगी है। मुझे रात-दिन चन्दन की चिन्ता लगी रहती है। बस किसी तरह उसकी पढाई-लिखाई पूरी हो जाए।"[1] सुक्खा जानता है कि पढाई से ही सब कुछ हासिल किया जा सकता है। जब चन्दन की माँ पूछती

---

1 जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 12

है कि और आगे पढकर कौन सा कलेक्टर बन जाएगा तो वह अपनी पत्नी को समझाता है "चुप रह पगली कोई पेट से बडा बनकर आता है। पढ-लिखकर बडे बनते हैं सब। क्या पता कल को हमारा चन्दन भी कलटटर या दारोगा बन जाए। अपनी चिन्ता छोड़ हमें थोडे बहुत दु:ख उठाने पड़ रहे हैं तो क्या? दु:ख के बाद ही सुख आता है। हमारे दिन भी कभी न कभी बहुरेंगे।"[1] अपने बेटे की पढाई के खर्च केलिए वह गाव के पास एक कस्बे में मेहनत-मजदूरी करने लगता है। शहर में रहते चन्दन को पैसा भेजता रहता है। सुक्खा और रमिया का यह सपना एक आम माता-पिता का ही सपना है जिसके सहारे ये दोनों पति-पत्नी जिए जा रहे हैं, "एक तरह से इस छोटे से उपन्यास में दलित जीवन से जुड़े लगभग सभी मुद्दे उभरकर सामने आये हैं, जैसे स्वतंत्रता के बाद दलित समाज में शिक्षा के प्रति आकर्षण जुनून की हद तक बढा है। क्यों ? क्योंकि शिक्षा ही दुनिया की हर समस्या का हल है। शिक्षा ही व्यक्ति को दासता (चाहे वह किसी भी प्रकार की हो) से मुक्ति दिला सकती है। इसका परिणाम भी समाज में देखने को मिलने लगा है।"[1] यहाँ दलितों के मन की परिवर्तित मानसिकता स्पष्ट हो उठती है। दलितों में शिक्षा के प्रति जो आकर्षण बढता ही रहता है वह एक ओर उनके उद्धार को सूचित करता है तो दूसरी ओर वह उनमें दलित चेतना जाग्रत कराने में सहायक भी सिद्ध होता है।

---

1 जयप्रकाश कर्दम छप्पर - पृ. 12-13

2. डॉ. एन. सिंह समीक्षा पृ. 9. अक्टू-दिस. 1994

दलितों का शोषण

दलित शोषण के सारे संभाव्य घटनाएँ इस उपन्यास में देख सकते है। चन्दन डिग्री की पढाई करने दिल्ली जाता है। उसके जाने के कुछ दिनों बाद सुक्खा और रमिया पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता है। खेत की मालगुज़ारी न चुका पाने के कारण उसे खेत से बाहर कर दिया जाता है। मकान तो पहले से ही लाला के पास गिरवी रखा हुआ था। उसका भी पैसा वापस नहीं कर पाया तो लाला ने उसका मकान अपने कब्जे में ले लिया। जो गहने पत्नी के पास थे वे चन्दन की पढाई में पहले ही बिक चुके थे। लोगों की मर्जी के खिलाफ चन्दन को पढाने के लिए शहर भेज देने के कारण कोई भी उसकी मदद करने केलिए तैयार नहीं होता। विवश होकर उसे गाँव छोडना पडा। दिल्ली आने पर चन्दन को भी इसी प्रकार के शोषण का अनुभव करना पडता है "चन्दन जब शहर पढ़ने गया था, तो भूचाल-सा आ गया था। सारे गाँव में ब्राह्मण -ठाकुर सब के कान खडे हो गये थे। एक अनहोनी बात हो गयी थी अनहोनी ही नहीं, बडा भयंकर अनर्थ हो गया जैसे ब्राह्मण और ठाकुरों से लेकर लाला साहूकार तक सब है इस गाँव में और बडे-बडे पैसे और हैसियत वाले, पर आज तक किसी का बेटा शहर पढने नहीं गया। लेकिन सुक्खा चमार का बेटा शहर पढने चला गया। नाक कट गई। सबके सिर पर मूत दिया एक चमार ने।"[1] बेटे को शहर भेजने की बात पर काणे पंडित के पूछने पर सुक्खा कहता है कि- हाँ पडितजी गया तो है आप के आशीर्वाद से, तो वह जल उठते है कि तू ने अनर्थ

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 14

किया है अनर्थ। और आगे कहते है "लेकिन यह दो कौड़ी का आदमी, यह चमार की औलाद, हम सब के मुख पर कालिख पोतने चला है, बेटे के उँची तालीम के लिए शहर भेजकर। यह अपमान है, ठाकूर साहब। सबके मूँह पर एक चाँटा है।"[1] तथा हरनाम सिंह सुक्खा को अपने बेटे को शहर से वापस बुलाने का हुक्म देते हैं। सुक्खा के विनम्रता पूर्वक मना कर देने पर ही उसे सारी पीडाएँ झेलनी पडती हैं। लेकिन वह पीछे नहीं हटता बल्कि गाँव छोडकर पास के ही कस्बे में रहकर मेहनत मज़दूरी करता है और पैसा चन्दन को भेजता है। शोषण होने पर भी उसका सामना करके आगे बढने का अदम्य आग्रह यहाँ व्यक्त हो रहा है।

अन्धविश्वासों के खिलाफ दलित विचार

जब चन्दन झुग्गी बस्ती में रहने लगा तो उसे कुछ अटपटा सा लगा। कुछ ही दिनों में वह इसका अभ्यस्त हो जाता है। वह लोगों के जीवन को बहुत करीब से देखता है। सोचता है कि लोग कितना कष्टप्रद जीवन जी रहा हैं। इन्हें शिक्षा की कमी है। ये लोग तमाम तरह के अन्धविश्वासों में ज़कडे हुए हैं। वह सोचने लगता है कि इनकी स्थिति में कैसे परिवर्तन लाया जाय? उसके खुद की जिम्मेदारी क्या है ? उनके बीच रहते हुए संवेदनशील चन्दन उनकी क्रिया कलापों में भाग लेने लगता है। सामाजिक कार्यों में सहयोग देता है। जब झुग्गीवासी मानसून लाने केलिए यज्ञ करने की योजना बनाते हैं तो चन्दन इसका कड़ा विरोध करता है और लोगों को समझाता है कि यह मात्र अन्धविश्वास है और कुछ नहीं। लोगों को आश्चर्य होता

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 15

है कि चन्दन पढा-लिखा होकर भी इस तरह की उल्टी-सीधी बातें क्यों कर रहा है? लेकिन चन्दन बड़े धैर्य एवं तर्कपूर्ण ढंग से लोगों को समझाता है "तुम लोग यह भी मानते हो कि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है और सब कुछ उसकी इच्छा और आदेश से होता है। हाँ, हाँ, बिल्कुल मानते हैं। लोगों ने फिर एक स्वर में सहमति जतायी, तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी आज जो दीन-हीन हालत है, जो तुम रोजी रोटी के लिए दूसरों के मोहताज रहते हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरे लोग जो तुमसे घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण और अपमान के शिकार हो, इस सब का कारण ईश्वर है। वही तुम्हारी यह दुर्दशा कर रहा है।"[1] वह आगे समझाता है, "तुम लोग जिस ईश्वर को मानते हो, उसकी पूजा अर्चना करते हो, उसको प्रसन्न करने केलिए भेंट चढाते हो, तब भी तुम पर उसे दया नहीं आती है और वह तुमको पशुवत और नारकीय जीवन जीने को बाध्य करता है। तब तुम ही सोचो ऐसे ईश्वर को क्यों माना जाए। जो ईश्वर तुम्हारा भला नहीं करता, बल्कि बुरा करता है उसको मानने का कोई औचित्य नहीं।"[2] अतंतः वे चन्दन की बातों से प्रभावित होते हैं और यज्ञ करने के विचार को त्याग देते हैं। यहाँ एक दलित युवक के विचारों की समाज द्वारा स्वीकृति ही स्पष्ट हो रही है। इससे समाज में उसकी हैसियत बढ जाती है और आगे बहुत कुछ करने की प्रेरणा उसे मिल जाती है। चन्दन इस तरह की कई घटनाओं को नेतृत्व देता है और भविष्य के कई कार्यों की योजना भी बना लेता है।

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 22
2. वही पृ. 23

दलितोद्धारण

वास्तव में चन्दन आधुनिक दलित चेतना के प्रतीकात्मक पात्र के रूप में पाठकों के सम्मुख आता है। जिस पक्वता के साथ वह अपने मित्रों को समझाता है वह आज की युवा दलित पीढी केलिए काफी चिंतनीय एवं स्वीकार्य है। वह अपने मित्र रामहेत को समझाता है कि सामान्य विद्यार्थी की तरह तुम भी सब कुछ कर सकते हो, लेकिन सिर्फ दिमाग, इरादा और इच्छा शक्ति से काम नही बनेगा। इसकेलिए जाति के लेबल पार करना होगा जो कि दलितों के रास्ते में पत्थर सी बनी हूई है। वह अपने दोस्तों को बुनियादी सत्य समझाते हुए कहता है "केवल सामाजिक रूप से ही हमारी परिस्थिति भिन्न नहीं है, बल्कि आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रत्येक क्षेत्र में हम पिछड़े हैं। हमें प्रत्येक क्षेत्र में ऊपर आने की जरूरत है, लेकिन सबसे पहले जरूरत है सामाजिक सम्मान की। यदि तुम्हारे पास सामाजिक हैसियत है तो तुम्हारेलिए हर कहीं गुंजाईश हो सकती है। यदि तुम्हारी कोई सामाजिक हैसियत नहीं है तो चाहे तुम कोई काम कर लो, कितना भी धन कमा लो इन सब का कोई महत्व नहीं। पैसा भी जीवन का एक फैक्टर है, मैं इससे इनकार नहीं करता, लेकिन उससे पहले जरूरी है, समाज में तुम्हारी हैसियत का होना।"[1]

चन्दन का दूसरा एक और दोस्त है नन्दलाल जो वकील बनकर खूब पैसा कमाना अपना एक मात्र उद्देश्य मानता है। उनके अनुसार पैसा आना चाहिए चाहे वह किसी भी तरह से हो। याने कि वह बड़ा आदमी बनने केलिए साम, दाम, दण्ड, भेद

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 41

आदि सभी का सहारा लेना चाहता है। यहाँ नन्दलाल आम आदमी की तरह ही सुख चैन की तरफ भागना चाहता है। साध्य केलिए साधनों की पवित्रता पर विश्वास नहीं करना चाहता। भारतीय समाज में नन्दलाल जैसे व्यक्ति उपरोक्त सन्दर्भ को समझने की भूल प्रायः करते हैं। इस प्रकार के विचार वालों को समझाते हुए आम दलित चेतना का विचार यों व्यक्त करते हैं, "खाने केलिए अच्छा भोजन, पहनने केलिए अच्छा कपड़ा और रहने केलिए अच्छा मकान कौन नहीं चाहता? मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें इन सब केलिए प्रयास नहीं करना चाहिए। मैं भी चाहता हूँ यह सब, लेकिन सिर्फ मैं यह करना चाहता हूँ कि इसके साथ-साथ अपने समाज के उत्थान और विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। सदियों से गुलामी और दासता की जंजीरों में ज़कड़ा हुआ है हमारा समाज। खाली पेट, नंगे तन और टूटे-फूटे, छान-झोंपडों में बसर करने की विवशता, यही रहा है सैकड़ों, हजारों वर्षों से हमारे समाज का यथार्थ। हम लोग पढ़-लिख गए हैं, लेकिन हमारा समाज, हमारे नाते-रिश्तेदार सबके सब उसी स्थिति में हैं। उन सबकी निगाहें हमारी ओर हैं। यदि उनके उत्थान की ओर हम ध्यान नहीं देंगे तो कौन देगा? और क्या तुम चाहोगे कि हमारे कुटुम्बी नाते-रिश्तेदार सदा जिन्नत की ज़िन्दगी जीते रहें। अपनी बात कहते

कहते नन्दलाल से ही प्रश्न किया चन्दन ने।"[1] यहाँ चन्दन अपने मित्रों को यह समझाते हैं कि व्यक्तिगत हित के साथ -साथ समाज का हित भी आवश्यक है। इससे प्रभावित होकर वे सब सामाजिक उत्थान में हाथ बंटाने का संकल्प लेते हैं। वे यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे जहाँ भी जिस क्षेत्र में रहेंगे वे अपने समाज के लोगों के

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 42

उत्थान केलिए काम करेंगे। यहाँ एक प्रकार की नयी चेतना का जागरण कराने में चन्दन सफल हो रहा है जो कि एक दिन जनान्दोलन का रूप ले लेता है और दलित एक जुट होकर धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।

सामाजिक पतन की व्यवस्थाएँ

उपन्यासकार यहां यह स्पष्ट कर देते हैं कि सामाजिक पतन का मुख्य कारण समाज में प्रतिष्ठित कु व्यवस्थाएँ ही हैं। ये व्यवस्थाएँ मनुष्यों द्वारा मनुष्यों केलिए ही बनाई गयी हैं, पर इसे बदलना है तो इसे बदल लेना ही चाहिए। उपन्यास के ठाकुर हरनाम सिंह की पुत्री रजनी चन्दन के आन्दोलन से सहानुभूति रखती है और उससे जुड़ भी जाती है। पर ठाकुर हरनाम सिंह और काणे पण्डित इस आन्दोलन के सख्त विरोधी हैं। काणे राम जी जान से इसका विरोध करता है, "वे मिटाएंगे सबका भेद। ऐसा कैसे हो सकता है, कैसे बराबर हो सकते हैं, ब्राह्मण और भंगी सब। यह कोई उनकी बनाई व्यवस्था है कि लिया और खत्म कर दिया। सनातन व्यवस्था है, यह तो रहेगी ही। धर्मशास्त्रों से भी बडा हो सकता है कोई भला।"[1] तो इसके जवाब के रूप में रजनी कहती है कि "कौन कहता है व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता? आखिर आदमी की ही बनाई हुई है सारी व्यवस्थाएँ, और सारी व्यवस्थाएँ आदमी केलिए ही हैं। तब यदि किसी व्यवस्था में दोष हो और उत्थान की बजाए पतन का कारण बनती है तो उसे अवश्य बदला जा सकता है। और बदला जाना चाहिए।"[1] सुक्खा के प्रति जो व्यवहार किया इसे लेकर रजनी अपने पिता से

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 81
2. वही

नाराज़ है और अपने पिता को समझाना चाहती है तथा उनको हकीकत से वाकिफ कराना चाहती है कि "संविधान के अनुसार देश के प्रत्येक नागरिक को सम्मान और स्वाभिमान पूर्वक जीने का हक है। प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवसाय चुनने और जीवन की दिशा निर्धारित करने की स्वतंत्रता है। यदि चन्दन पढ़-लिखकर कुछ काबिल बनना चाहता है तो यह उसका हक है। इस पर किसी को एतराज़ क्यों होना चाहिए।"[1] यहाँ लेखक रजनी के द्वारा समाज में हो रहे अन्याय एवं कु-व्यवस्थाओं की आलोचना कर रहे हैं। मानवता के विरुद्ध हो रहे अत्याचारों से समझौता करने केलिए आज की युवा पीढ़ी तैयार नहीं है। इसलिए यहाँ रजनी के द्वारा ही इन अत्याचारों का विरोध होता है।

अत्याचार की शुरुआत रजनी के घर से ही होती है। वह व्यवस्था के चरित्र को बहुत अच्छी तरह समझ चुकी है। इसलिए वह सदियों से चली आ रही शोषण प्रक्रिया को समझदारी से समाप्त करना चाहती है । अब तक जो अन्याय और शोषण लोगों पर होता आया है उसका तो वह कुछ नहीं कर सकती । पर अब से वह अपने यहाँ किसी भी प्रकार के शोषण और अन्याय को होने नहीं देगी। यही उसका संकल्प है। इसलिए वह अपने पिता से कहती है कि "यदि आपको मेरी सोच उचित दिखाई पड़ी तो समाज के बीच जाइए आप भी, और माफी मांगिए उनसे अपनी ज्यादतियों केलिए। मैं नहीं समझती कि वे लोग इतने कठोर होंगे कि आपको माफ न कर सकें । आप सच्चे मन से खेद जताएंगे तो ये भी जरूर भूल जाएंगे उस

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 81

घिनौने अतीत को और तब आपस में सब मिलजुल कर रह सकेंगे।"[1] रजनी जिस सपने की कामना करती है उसी प्रकार समाज में परिवर्तन होता है। लेकिन इस सपने को साकार बनाने केलिए चन्दन और रजनी अपने आप को भूलकर मेहनत करते हैं और जनता में दलित चेतना जगाने तथा उन्हें समाज के सवर्णों के समकक्ष लाने में सफल होते हैं।

दलित चेतना का जागरण

चन्दन दिल्ली में रहकर अपना सामाजिक कार्य करता है। रजनी अपने संकल्प के मुताबिक मातापुर गाँव के हर प्रकार के अन्याय और शोषण को समाप्त करना चाहती है। अभावों से संघर्ष करते हुए जब सुक्खा और हरिया हार जाते हैं तो वे चन्दन के पास जाने का मन बना लेते हैं। लेकिन रजनी उन्हें रोक लेती हैं। वह सोचती है कि ये लोग चन्दन के पास पहूँचने पर उसके कार्य में बाधा पड़ेगी। वह चन्दन के माता पिता को समझाती है कि आप लोग चन्दन के पास जाने का विचार त्याग दीजिए क्यों कि वह दलित लोगों को शिक्षित करने में लगा हुआ है। उन्हें न्याय और समानता दिलाने केलिए संघर्ष कर रहा है, "समाज में अन्याय और असमानता मिटाकर, सवर्ण-अवर्ण, सछूत-अछूत, अमीर-गरीब, मालिक -मज़दूर सब को समान धरातल पर लाने तथा समाज में खुशहाली और भाईचारा बढाने केलिए कार्य कर रहा है चन्दन। आप के वहाँ जाने से उसका ध्यान इन कार्यों की ओर से हटकर आप पर

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 88

केन्द्रित हो जाएगा। और मैं नहीं समझती कि इससे आन्दोलन प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकेगा।"[1]

रजनी सुक्खा और हरिया को मातापुर गाँव ले जाती है। सुक्खा का जो खेत और मकान गिरवी रखा गया था उसको रजनी ने छुड़वा लिया। रजनी के प्रयासों से बदले हुए इस गाँव को देखकर सुक्खा और रमिया आश्चर्य चकित हो उठते हैं। ठाकूर हरनाम सिंह अपने अब तक के कर्मों के विषय में सोचते हैं तो उन्हें आत्मग्लानि होती है। उम्र के अपने अंतिम पडाव पर उन्हें पुण्य और पाप का एहसास होता है और वह अत्महत्या करने तक तैयार हो जाता है। लेकिन सुक्खा उनको कुएं में कूदने से बचा लेता है। ठाकुर का ह्रदय परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप अपनी सारी सम्पत्ति मज़दूरों में बांट देते हैं। जितनी ज़मीनें उनके पास थीं सबको बराबर हिस्से में वितरित कर देते हैं। अपनी हवेली को त्यागकर वे सामान्य से मकान में रहने लगते हैं। लोगों ने ऐसा न करने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा कि "सब लोग जैसे मकानों में रहते हैं, वैसे ही मकान में रहना चाहिए मुझे भी। तभी तो सबके साथ बराबरी का अनुभव कर पाऊँगा में।"[2]

एक दिन जन सभा के दौरान् कुछ समाज विरोधी तत्वों ने चन्दन पर हमला कर दिया। चन्दन को बचाने के चक्कर में कमला बूरी तरह घायल हो जाती है। घाव गहरा होने के कारण उसकी मौत हो जाती है। इसके बाद रजनी चन्दन से

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 93
2. वही पृ. 106

कहती है "शहरों में लोगों को जागरूक बनाने का कार्य लगभग पूरा हो चुका है और अब गाँव की ओर चलो। हालांकि सदियों से चली आ रही व्यवस्था को एक दिन, महीने अन्यथा साल में बदला नहीं जा सकता। उसमें सम्पूर्ण बदलाव केलिए काफी समय चाहिए। लेकिन तुम्हारे प्रयासों से बदलाव की प्रकिया शुरु हुई है और दिन प्रतिदिन यह प्रक्रिया तेज़ होती जा रही है। लोगों में अपने उत्थान और विकास के प्रति चेतना आ चुकी है और समाज के दूसरे तबके के लोग भी यह बात अच्छी तरह समझ चुके हैं कि दलितों को समानता और भाइचारे का दर्जा देने के अलावा और कोई उपाय नहीं है। चारों तरफ स्वतन्त्रता और समानता का माहौल है। गली-गली और कूचे-कूचे में प्रेम और बन्धुत्व की धारा बह चली है। तुम अपने दायित्व को अंजाम दे चुके हो चंदन। तुम्हारी पढाई भी पूरी हो चुकी है और अब तुम्हें गाँवों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। इसलिए अच्छा हो कि अब तुम मातापुर चलो।"[1] यहां चन्दन अपने अभियान में कामयाब होता है। चारों तरफ परिवर्तन की लहरें उठने लगती हैं।

ठाकुर हरनाम सिंह पहले से ही समानता का व्रत ले चुके हैं। सेठ दुर्गादास भी स्थितियों को भांप कर अपने आप को बदल लेता है। पण्डित काणे राम भी वर्तमान परिस्थितियों में अपने आप को असहज पाकर जीविका कमाने शहर चला जाता है। जाति पांति और छुआछूत की भावना मिट चुकी है। लोग एक दूसरे के साथ प्यार मुहब्बत के साथ रहने लगते हैं। दलित आंदोलन के परिणामस्वरूप अन्यायमुक्त एक नयी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना ही उपन्यासकार ने दर्शाया है

---

1. जयप्रकाश कर्दम छप्पर, पृ. 111

जो कि वर्तमान दलित आंदोलन का लक्ष्य है। उन्हें पूरी उम्मीद है कि जिस प्रकार चन्दन और रजनी के सामाजिक कार्यों से प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाओं का परिवर्तन हुआ उसी प्रकार वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में भी ज़रूर परिवर्तन होगा।

सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य को ध्यान में रखकर इसका ताना-बाना बुना गया है। इसलिए इसके अनुरूप ही उपन्यासकार ने अपने पात्रों एवम् चरित्रों का सृजन किया है। चन्दन और रजनी इस उपन्यास के मुख्य पात्र हैं जो नए मूल्यों एवम् परिवर्तनों के वाहक हैं तो सेठ दुर्गादास, काणे पण्डित, ठाकुर हरनाम सिंह आदि प्रतिगामी शक्तियों के वाहक के रूप में सामने आते हैं। यहाँ सुक्खा और रमिया सामाजिक परिवर्तन लाने के संघर्ष में लगे अपने पुत्र चन्दन को पूरा सहयोग देते हैं। उन्हें अपने पुत्र से वही अपेक्षाएं नहीं रह जाती है जो सामान्य तौर से आम माता-पिता की अपने पुत्र से रहती है। अपनी वृद्धाअवस्था में भी वे पुत्र के उद्देश्य को अपना उद्देश्य मानकर बडे से बडा त्याग करने केलिए तत्पर रहते हैं।

समाज के प्रत्येक माता पिता जब ऐसी कामना करेगी तब ही हमारे समाज में दलितोद्धार का क्रांतिकारी परिवर्तन संभव हो सकता है। रजनी ज़मींदार परिवार से आते हुए भी स्वतन्त्रता और समानता की लडाई में चन्दन का साथ देती है और अपने पिता से लोहा लेती है। यहाँ तक कि वह जाति के बन्धन को तोड़ते हुए चन्दन के साथ शादी करने का मन भी बना लेती है। उपन्यास का नायक चन्दन अपना व्यक्तिगत हित त्याग कर समाज के हित केलिए अपने आपको कुर्बान कर देता है। ठाकुर हरनाम सिंह का हृदय परिवर्तन होता है और वे समानता और भाई चारे का व्रत लेकर नया जीवन शुरु करते हैं। उपन्यासकार ने यहाँ भारतीय समाज के दलित

आन्दोलन और उससे हुए परिवर्तनों को केन्द्र में रखकर इस उपन्यास का सृजन किया है। उपन्यास का विशेष ज़ोर दलितों में शिक्षा के प्रसार का है ताकि वे अपने अधिकार एवं हैसियत समझ पायें और उसकेलिए प्रयत्न करें। उपन्यास में इस आन्दोलन को चलाने केलिए अहिंसा के मार्ग को अपनाया गया है जो बिलकुल सराहनीय है। इस प्रकार दलित साहित्य की एक प्रतिनिधि रचना के रूप में यह उपन्यास सफल निकला है। यह स्पष्ट करता है कि दलितों केलिए दलितों को ही लडना है। उनकेलिए लडने या आवाज़ उठाने केलिए वर्तमान व्यवस्था में कोई राजनीतिक या सामाजिक दल मौजूद नहीं है। दलित मुक्ति आन्दोलन के मार्ग में जितनी कठिनाईयां हैं उन सब को दर्शाते हुए उन्हें उन सब के परे ले जाने में उपन्यासकार सफल हुए हैं।

जस तस भई सवेर

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत के एक दलित परिवार को केन्द्र में रखकर यह उपन्यास लिखा गया है। इसका माहौल एक सम्पूर्ण दलित समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखता है। नई राजनैतिक व्यवस्था द्वारा समाज में जिस तरह के परिवर्रतन लाए जा रहे थे उनका दलित समाज पर किस तरह प्रभाव पड़ रहा था, अथवा दलित समाज उसको किस रूप में ग्रहण कर रहा था, उन सब का सजीव चित्र उपन्यास में खींचा गया है। सदियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था ने दलितों के जीवन को जो आकार प्रदान किया, उनके विचारों और मनः स्थितियों को जिस तरह निर्मित किया, आज की बदली हुई परिस्थितियों में उनसे कैसी प्रतिक्रियाएँ करवाईं ये सब इस उपन्यास की ज्वलन्त समस्याएँ हैं।

हंसा मंगल पहलवान का लड़का है और सरवन उसका बडा भाई। पिता मंगल पहलवान को अपने घर-बार से उतना रिश्ता नहीं जितना कि पहलवानी से। हंसा भी पहलवान है। पिता और पुत्र की पहलवानी और लठैती गाँव में प्रसिद्ध है। पर दोनों पढे लिखे नहीं हैं। पर सरवन थोड़ा पढा-लिखा और चेतना सम्पन्न है। हंसा अपना जीविकोपार्जन खेती -बारी और मज़दूरी से करता है और सरवन छोटी-मोटी दूकान से। हंसा और मंगल पहलवान धर्मभीरु किस्म के व्यक्ति हैं। हंसा की पत्नी सुनहरी इस मामले में तो और भी आगे है। ये भोले-भाले, अज्ञानी और भावुक हैं, टोना टोटका जैसे कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों में इनका पूर्ण विश्वास है। इसके विपरीत सरवन ईमानदार, पढा-लिखा और चेतना सम्पन्न है। उसका पुत्र शिवदास दिल्ली के एक राष्ट्रीयकृत बैंक में कार्यरत है। वर्णाश्रम व्यवस्था अपने निकृष्टतम रूप में एक व्यक्ति को जितना मूढ़ और पालतू बना सकती है उसके साक्षात् उदाहरण मंगल पहलवान, हंसा और उसकी पत्नी हैं। आज़ादी के बाद के राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तनों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पडा है। व्यवस्था इन पर उसी तरह हावी है जिस तरह पहले।

सामाजिक अंधविश्वास एवं दलित शोषण

हंसा का एक छोटा सा परिवार है। वह हमेशा किसी न किसी छोटी मोटी विपत्तियों में फँसता ही रहता है। उनका विचार है कि देवी देवताओं की नाराजगी ही इसका कारण होगा। समाज में छोटे मोटे कई देवता है। लेकिन शक्तिशाली देवता के रूप में जाहरवीर की सर्वाधिक प्रतिष्ठा है। इनका देवालय तो राजस्थान प्रान्त में है। हंसा का लडका प्रायः बीमार पड़ा रहता है। उसके रक्षार्थ वह कई छोटे-मोटे

देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना कर चुका है। पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। इसलिए वह बड़े देवता जाहरवीर की पूजा अर्चना करना चाहता है। वहाँ का सबसे बड़ा पूजारी भगत हरसन्ना है। वह गाँव के हर छोटे-बड़े देवताओं का पूजारी है। भूत प्रेत से मुक्ति मिलनी हो, किसी को संतान लाभ होना हो, किसी को संपन्न बनना हो, तो लोग उसके पास ही आते हैं। उसके पास हर समस्या का समाधान है। उसके बिना किसी का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। हंसा केलिए हरसन्ना भगत भगवान है। अपनी हर समस्या केलिए वह भगत के पास जाता है और भगत जिस तरह की सलाह देता है वह वैसा ही करता है। हंसा को अपने पुत्र के इस जात कर्म में लगभग 5000 रुपये का खर्च होता है। उसने अपनी भैंस के दूध और मेहनत को गिरवी रखकर उधारी में इतने रुपया प्राप्त किया था। लेकिन हंसा का भाई सरवन उसको समझाने की कोशिश करता है और कहता है, "हंसा तुम ने पोंगा पण्डितों के चक्कर में पड़कर बेकार में 5000 रुपये फिजुल खर्च कर दिए। इस पैसे को तुम अपने टूटे हुए घर को बनाने में लगा सकते थे। बच्चों को पढाने केलिए तुम कहते हो कि पैसा नहीं है। अरे हंसा मूर्ख मत बनो। दिमाग से काम लो, पूजा पाठ में कुछ नहीं रखा। इससे पुजारियों, भक्तों और शोषकों को छोड़कर और किसी व्यक्ति को कोई लाभ आज तक नहीं हुआ है और न कभी होगा।"[1] सरवन की इस सलाह को अन्धविश्वासी हंसा गलत अर्थ में लेता है और उस पर क्रुद्ध हो उठता है। "आइन्दा मुंझसे फिज़ुल की बातें मत करना। मेरे पास इन सब बातों केलिए समय नहीं है। रही कर्ज की बात, तो कर्ज किस पर नहीं है? साले, टाटा-बिड़ला, अम्बानी-रम्बानी तक कर्ज में

---

1. जस तस भई सबेर, सत्यप्रकाश, पृ. 11

फंसे पडे हैं। अरे भाई दुनिया के आधे से ज्यादा देश अमेरिका, जापान और रूस के कर्ज मन्द हैं। तुम्हीं अखबार में पढकर बताओ? है ना। अरे जिन्दगी है तो कर्ज पानी लगा ही रहता है।"[1] उसके कथन से एक बात स्पष्ट है कि सदियों से चली आ रही परंपराओं मान्यताओं एवं विश्वासों को चुनौती देना आसान नहीं। हंसा जैसे लोगों के सन्दर्भ में हरगिज़ । वे तो विश्वास को छोड़कर तर्क पर आने के लिए तैयार नहीं। हंसा अपनी सामाजिक परंपराओं एवं मान्यताओं से इतनी श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है कि वह अपने देवी-देवताओं और भक्तों पुजारियों की आलोचना बिल्कुल नहीं सुनना चाहता। अन्धविश्वास से व्यक्ति मूर्ख बनता है और यही मूर्खता उसके सहज शोषण का कारण बनती है। हंसा खुद तो अज्ञानी और मूर्ख है। पर वह सरवन को ही अज्ञानी और मूर्ख समझता है। सरवन हंसा की स्थिति पर दुखी है पर कुछ करने में असमर्थ भी है।

मानवीय संबन्धों पर अन्धविश्वास एवं शोषण का प्रभाव

हरसन्ना भगत और जमींदार देवीलाल गाँव के शोषक हैं। हरसन्ना पूजा-पाठ के माध्यम से लोगों का आर्थिक शोषण करता है तो दूसरा ब्याज और ताकत से गरीबों को चूस लेते हैं। व्यवस्था कुछ ऐसी है कि धुसिया और सन्नो जैसी महिलाएँ शोषित होने केलिए अभिशप्त हैं। दलित समाज को छोडकर इन महिलाओं की सहायता केलिए शायद ही कोई आ सकता है। पुलिस व्यवस्था भी तो इसी समाज के लोगों से बनी है। अपनी स्वाभाविक मानवीय कमज़ोरी तथा आर्थिक, सामाजिक और

---

1. जस तस भई सबेर, सत्यप्रकाश पृ. 10-11

राजनैतिक विपन्नता के चलते रामरती, सन्नो और धुसिया को नहीं बचा पाती हैं। धुसिया की इज्ज़त लूट ली जाती है। पर उसके अकेले विरोध करने से कोई फायदा नहीं हुआ। इज्ज़त लुट लिए जाने के बाद वह चौधरी का भंडाफोड़ करने की धमकी देती है। चौधरी भयभीत हो जाता है और धुसिया को जान से मार डालता है। रामरती और सन्नो को धमकी देकर चुप करा देता है कि अगर वे इस घटना का जिक्र किसी से करें तो यही हश्र इन लोगों का भी होगा जो धुसिया के साथ हुआ। जाहरवीर देवता की जात लगाने के बाद भी हंसा का परिवार विपत्तियों से मुक्त नहीं हो पाता तो हरसन्ना भगत इससे और फायदा उठाता रहता है। वह हंसा से कहता है कि "भाई हंसा मानोगे तो तुम बुरा पर सच्ची बात यह है कि तुमने जो जात लगाई देवता जाहरवीर ने इसे कुबूल नहीं किया है। अब या तो तुम्हारा मन सच्चा नहीं था अथवा तुम्हारे किसी परिवारीजन की नीयत में खोट थी।"[1]

इसको लेकर हंसा की पत्नी सरवन पर ही शक करती है और हंसा को भी यही विचार आ जाता है। एक दिन दोनों के बीच झगडा हो जाता है और मारपीट भी। इस प्रकार हरसन्ना भगत के कारण दोनों भाईयों के बीच का असली सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। रक्त सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है। वास्तव में सरवन चेतना सम्पन्न व्यक्ति है। वह इस प्रकार के सामाजिक अन्धविश्वासों के विरुद्द आवाज़ उठाता है और लोगों को सचेत करने का प्रयत्न करता है। हरसन्ना भगत जानता है कि सरवन जैसे चेतना संपन्न लोगों का समाज में होना उन्हें खतरे की बात है। इसलिए

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 19

सरवन जैसे लोग बराबर उनके निशाने पर रहते हैं। हरसन्ना भगत के सामने सरवन अपने भाई की वजह से पराजित हो जाता है। इस घटना से एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट हो उठती है कि अन्धविश्वास मात्र व्यक्ति का आर्थिक और मानसिक शोषण ही नहीं करता, बल्कि मानवीय सम्बन्धों को भी समाप्त करता है। आपसी भाईचारे को भी खत्म करता है। अन्धविश्वास में पड़ा व्यक्ति मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं को खोकर हैवानियत का शिकार भी बन जाता है। समाज केलिए यह किसी भी सीमा तक खतरा हो सकता है।

आरक्षण और दलित विचार

उपन्यास का शिवदास दिल्ली में कार्यरत है। मंडल कमीशन को लेकर चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। आरक्षण विरोधी आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था। एक ओर पत्रकार एवं जनता आरक्षण के विरुद्ध अपना विचार प्रकट करते हैं तो इसके समर्थन में राजनीतिक नेताओं से अपना तर्क कर रहे थे। कुछ पत्रकार प्रश्न पर प्रश्न कर आरक्षण के औचित्य पर उँगली उठा रहे हैं "सुनिए आरक्षण के विरुद्ध हम भी नहीं हैं। हम यह नहीं कह रहे हैं कि मंडल कमीशन की संस्तुतियाँ असंगत है। अथवा उनका कोई आधार नहीं है। हमें तो सर्वाधिक दु:ख इस बात का है कि इसके कारण इस देश के होनहार एवम् योग्य युवक आत्मदाह कर रहे हैं। अतः हम तो यह चाहते थे कि इन संस्तुतियों के क्रियान्वयन से पूर्व राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए थी।"[1] किसी दूसरे पत्रकार ने सांसद महोदया से अपनी बात कही कि

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 24

"हम आरक्षण का विरोध करते हैं इससे सेवाओं में अयोग्य व्यक्ति आ जाते हैं। योग्य एवम् दक्ष व्यक्ति सड़क पर जूते चटकाते रहते हैं और वे इसके लिए विवश भी हैं।"[1]

लेकिन पत्रकारों के इस तरह के दृष्टिकोण से लेखक सहमत नहीं है। यहाँ लेखक अपना विचार संसदीय महोदया द्वारा यों प्रस्तुत करते हैं। वह मंडल कमीशन पर बहस नहीं हुई के आरोप का प्रत्युत्तर देती हुई कहती हैं कि "प्रचार माध्यमों की कब्जेदारी द्वारा मान्यता प्राप्त सुविधा भोगी लोग शोषकों के पक्ष में ही अपनी बात करते हैं। उनके अपने पूर्व निश्चित वर्गीय उद्देश्य होते हैं। इसलिए उसके पक्ष में ही अपनी बात करते हैं। वह बहस नहीं, बल्कि संचार माध्यमों के सहारे पसड़ और बवाल मचाते हैं। इन सब चीज़ों को राष्ट्रीय बहस कैसे कह सकते हैं आप। शोषण व्यवस्था परिवर्तन हेतु प्रयासरत लोगों को राष्ट्रीय बहस के नाम पर धमक और हनक द्वारा मुँह बंद कर दिया जाता है। राष्ट्रीय बहस सदैव स्वस्थ मानसिकता में ही सम्भव है जिसका हमारे यहाँ नितान्त अभाव है। और अभी तक जो नियम और विनियम बनाए गए हैं और लागू भी किए गए हैं, क्या उनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय बहस हुई थी।"[2]

जब पत्रकार कहते हैं कि यह विवादास्पद कानून था इसलिए इस पर बहस होनी चाहिए थी। तो सांसद महोदया स्पष्ट कर देती है कि कोई विधि स्वयं में विवादास्पद नहीं होती। उसे बुद्धिबल से विवादास्पद बना दिया जाता है। और फिर कौन से कानून को विवादास्पद नहीं बताया गया। कौन से कानून को हमने

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 25
2. वही पृ. 25

सर्वसम्मति से अपनाया है। बहु विवाह प्रथा व सतीप्रथा समाप्ति, बालविवाह निषेध, विधवा पुनर्विवाह, अवर्णों तथा स्त्रियों को शिक्षा, समानता जैसे अन्य अधिकार प्राप्ति सम्बन्धी विधियों को भी तब तक सर्वसम्मति से स्वीकार न किया जब तक कि इसके निषेध को विधि द्वारा दण्डनीय अपराध न घोषित किया गया। इससे पूर्व इन विधियों का जमकर विरोध किया गया और भयंकर लूटपाट मचाई गई। प्रत्येक युग में प्रत्येक समाज में विधि क्रियान्वयन के पीछे दण्डात्मक शक्ति कार्य करती रही है। "अरे बन्धु यह तो वह देश है जहाँ के कुछ निश्चित वर्ग के लोगों ने अपने स्वार्थवश स्वतन्त्रता संग्राम का भी विरोध किया था? क्यों कि उनके हित विरोधियों के संरक्षण में फल-फूल रहे थे और मज़ेदार बात यह है कि वही स्वतन्त्रता का आज सर्वाधिक लाभ उठा रहे हैं।"[1] यहाँ लेखक ने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है कि दलितों केलिए आरक्षण की ज़रूरत क्यों है तथा इसका विरोध स्वाभाविक है लेकिन न्यायसंगत नहीं है।

मंडल कमीशन - पत्रकारों की भूमिका

यहाँ स्पष्ट किया गया है कि मंडल कमीशन विषय को लेकर यदि राष्ट्रीय बहस आयोजित भी की गई है तो किसके द्वारा किस तरह चलायी जाय? पेपर, टी.वी.और रेडियो के माध्यम से ही साधारण तौर पर बहस होते हैं। लेकिन सवाल यह है कि उसमें कौन लोग उपस्थित है? ये प्रतिष्ठान किसके हैं? क्या इसमें उस वर्ग के लोग हैं जिनकेलिए मंडल कमीशन लागू किया गया है। जब तक इन जगहों पर

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 26

इनके वर्ग के प्रतिनिधि नहीं होंगे तो उनकी बहस करने वाला कौन हो सकता है। यहाँ तो वही लोग भरे पडे है जो मंडल कमीशन का विरोध करते हैं। स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में आरक्षण पाने वाले वर्गों से तो कोई नहीं आता। यही सच्चाई है। यदि बहस चला भी जाय तो इसपर स्वास्थ्यपूर्ण चर्चा कदापि संभव नहीं है।

मंडल कमीशन के दौरान् वास्तव में मीडिया के लोगों ने खबरों को बढा-चढाकर और उत्तेजक बनाकर छापा जो कि राष्ट्रीय दायित्व के निर्वहण की बात नहीं दिखाई देती। उपन्यास का नायक शिवदास पत्रकारों को अपना विचार व्यक्त करते है जो कि अत्यंत महत्वपूर्ण है, "परन्तु राष्ट्रीय हित सदैव सर्वोपरि है। यदि किसी सूचना के प्रकाशन से राष्ट्रीय हित पर आंच आती है, हिंसा भड़क उठती है, वर्ग व जातीय संघर्ष छिड़ सकता है, राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षति पहूँच सकती हो, कानून व्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तो उस खबर को संवारकर छापना क्या राष्ट्रीय दायित्व नहीं है। यदि है तो मण्डल कमीशन सम्बन्धी खबरों में ऐसा क्यों नहीं किया गया ? यदि नहीं है तो रेल दुर्घटना और दंगों में 1000 लोगों के मारे जाने पर बमुश्किल 10 लोगों की सूचना क्यों दी जाती है। मण्डल सम्बन्धी आत्मदाहों के मामले में ऐसा उद्देश्यपूर्वक नहीं किया गया। सत्य तो यह है कि इस बीच दहेज और आपसी रंजिस में जलने और मरने का कोई समाचार छप नहीं रहा था, बस केवल मण्डल विरोध में आत्मदाह। पता नहीं दहेज के कारण जलाया जाना अचानक इस अवधि में कैसे बन्द हो गया। जो भी जला, जो भी मरा बस मण्डल कमीशन के कारण।"[1] इन्हीं सब कारणों से हमें राष्ट्रीय बहस से आपत्ति हैं। भारत में मण्डल

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 41 42

कमीशन लागु करने के समय में जो कुछ हुआ उसी का जीता जागता चित्रण यहाँ उपन्यास कार ने किया है। यहाँ लेखक ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि भारत जैसे देश में दलितोद्दारण केलिए किसी भी योजना का आविष्कार करें तो किसी राजनीतिक दल या सामाजिक संगठन से उसकेलिए सहयोग मिलने की संभावना न के बराबर है। इसकेलिए राष्ट्रीय बहस या सास्कृतिक नेताओं की चर्चा एवं परिचर्चा करने से भी उसमें दलित प्रतिनिधि की सामाजिक आवाज़ कभी भी गूँजने नहीं देंगे। यहाँ दलित समाज को आवाज़ उठानी होगी, तभी उन्हें समाज के हर क्षेत्र में आगे आने का अवसर मिलेंगे।

सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध दलित आक्रोश

गैर दलितों के दलित साहित्य में प्रायः दलितों की दैन्यता का चित्रण मिलता है तो कहीं कहीं उनके प्रतिरोध की आवाज़ भी दर्शाई गई है। पर कहीं भी किसी दलित समाज की विजय चित्रित नहीं हुई है। पर यहाँ उपन्यासकार दलितों के ऊपर किये जा रहे अत्याचारों एवं शोषणों से उन्हें अवगत कराकर उनके विरुद्ध लोहा लेने केलिए उन्हें तैयार कर रहे हैं और उसमें सफल भी निकलते हैं। उपन्यास के प्रारंभ से ही हरसन्ना भगत और चौधरी दलितों का हर प्रकार से शोषण करते रहते हैं। यहाँ हंसा और सुनहरी इनके जाल में फंसे हुए है। चेतना संपन्न सरवन के खिलाफ हंसा को भड़काने का कार्य करने हेतु हरसन्ना और चौधरी द्वारा उस पर चोरी का इल्ज़ाम लगाया जाता है। लेकिन अंत में हंसा को वास्तविकता का पता चलता तथा समझ लेता है कि ये सारे पूजा पाठ सब कुछ कपट हैं और हरसन्ना भगत एवं चौधरी उसे उल्लु बना रहे थे। वे दोनों मिलकर सुनहरी को नशीला पदार्थ देकर

उसका इज्ज़त भी लूट लेता है। हंसा एकदम गुस्से में चौधरी का घर चला जाता है। पर वहाँ उनके लठैत उसकी खूब पिटाई करते हैं। इस घटना के बादं हंसा और सरवन का परिवार एक हो जाता है। हंसा और सुनहरी सरवन से माफी मांग लेते हैं। अब दोनों परिवार मिलकर चौधरी देवीलाल से मुकाबला करने की सोचते हैं। मंगल पहलवान उस समय घर पर नहीं था। वापस आने पर वे धावा बोल देते हैं। वे चौधरी और उसके लठैतों पर लाठी चलाते हैं। अंततः मंगल पहलवान की विजय होती है। पहलवान चौधरी को मारकर उसका हाथ पैर तोड़ देते हैं और उससे माफी भी मंगवाते हैं। चौधरी के घर की महिलाएँ पहलवान से उसे छोडने की बिनती करती हैं तो वह चौधरी पर रहम कर देते हैं। इसी तरह मंगल पहलवान ने हरंसन्ना भगत की हड्डी पसली एक कर दी। उसके बाद पहलवान इन दोनों के खिलाफ हत्या, बलात्कार, दलित उत्पीड़न आदि का मुकद्मा दर्ज करते हैं। जब इन दोनों को पुलिस थाने ले जा रहे थे कि अचानक धुसिया का पति मनसुख लाल आकर हरसन्ना भगत को गोली मार देता है। हरसन्ना भगत वहीं का वहीं मर जाता है। दूसरी गोली चौधरी देवीलाल पर भी चलाता है लेकिन वह बच जाता है। तब तक पुलिस वाले मनसुख लाल को अपने कब्जे में कर लेते हैं और सबको थाने ले जाते हैं।

परिवर्तित दलित चिंतन

अंततः सभी की आंखें खुल जाती हैं। वे उसी दिन से समाज में अन्धविश्वास और शोषण के विरुद्ध जागृति फैलाने का संकल्प लेते हैं। मंगल पहलवान की आंखें खुल जाती हैं और कहते हैं कि "आपने ठीक कहा समधी जी। मैं इसी क्षण से अंधकार का त्याग करता हूँ और प्रकाश का अभिनंदन करता हूँ। तमस भरी रात्री

बीत गयी। नया सवेरा शुरु हो गया है। मेरा अज्ञान मिट गया। ज्ञान चक्षु खुल गए। अब मैं शिवदासों के ही नहीं मनसुखों के मामले में भी स्वयं लडूँगा। उनका दु:ख भी मेरा ही दु:ख है।"[1] हंसा का भी अज्ञान दूर हो जाता है और उसी दिन से पूरा परिवार मिलकर रहने का संकल्प लेता है। साथ ही वे समाज में फैली हुई तमाम बुराईयों को समाप्त करने का भी बीड़ा उठाते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का अंत भी सुखात्मक होता है। कथ्य की दृष्टि से यह उपन्यास थोड़ा भिन्न है। आरक्षण और अन्धविश्वास के विषय को केन्द्र में रखकर इस उपन्यास की रचना की गई है जो सर्वथा नया है। नया इस अर्थ में कि इन दो विषयों की चर्चा विस्तार और व्यवस्थित ढंग से की गई है। आरक्षण जहाँ दलितों की राजनैतिक समस्या से जुड़ा हुआ है तो अन्धविश्वास सामाजिक समस्या से। दोनों ही समस्यायें समकालीन संदर्भ में काफी प्रासंगिक एवं स्वाभाविक भी हैं। समाज का एक वर्ग एक तरफ दलित समाज में फैले हुए अन्धविश्वास के सहारे उसका मानसिक, सामाजिक और आर्थिक शोषण करता है तो वहीं दूसरी तरफ राजनैतिक अधिकार के रूप में दलितों को प्राप्त आरक्षण का विरोध करता है। यह वर्ग किसी भी रूप में कहीं भी दलितों को मिलती सुविधाओं को बर्दाश्त नहीं कर पाता। इस लिए वह हर प्रकार की बाधाएँ उन के समक्ष खड़ा करता है। उपन्यास में आरक्षण के सन्दर्भ में इसको बखूबी प्रस्तुत किया गया है। ज़मींदार, पूजारी, प्रशासन जैसी सभी शक्तियाँ दलितों की अज्ञता और अन्धविश्वास का लाभ उठाकर शोषण कर रही हैं। उपन्यास में इसका स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। दलितों में से आगे आये कुछ चेतना संपन्न व्यक्तियों के परिश्रम के द्वारा समाज

---

1. सत्यप्रकाश, जस तस भई सबेर, पृ. 128

में फैली हुई बुराईयों को समाप्त करने का परिश्रम चलता है और वे चौधरी, हरसन्नाभगत जैसे क्षुद्र शक्तियों को पहचानकर उन्हें समाज से निष्कासित करने में सफल हो जाते हैं। सब मिलकर समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, शोषण आदि के विरुद्ध जागृति फैलाने का संकल्प लेते हैं फलस्वरूप उन के बीच एक नयी चेतना जाग उठती है।

मुक्तिपर्व

मोहनदास नैमिशराय एक चर्चित दलित साहित्यकार है। उनके द्वारा रचित 'मुक्तिपर्व' उपन्यास वास्तव में दलित मुक्ति के सही अर्थ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। भारतीय इतिहास में स्वतन्त्रता आन्दोलन एक ऐसी घटना है जिसका कई दृष्टियों से महत्व है। पर उस से जुडी हुई महत्वपूर्ण बात यह है कि इसने राजनैतिक आज़ादी की चेतना के साथ-साथ वैयक्तिक एवं सामाजिक आज़ादी की भी चेतना पैदा की है। सदियों से वर्णाश्रम व्यवस्था की गुलामी झेल रहे लोग स्वतन्त्रता के अर्थ को समझ गए। इसलिए स्वतंत्रता आन्दोलन के समय से ही उन लोगों द्वारा यह प्रश्न पूछा जाने लगा था कि अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता तो ठीक है, पर देशी अंग्रेज़ों से कब मुक्ति मिलेगी? स्वतन्त्र होने की चेतना ने ऐसे ही कई प्रश्न पैदा किए थे "यूँ असमंजस में शहर के दलित भी थे, उन्हें विरासत में दोहरी गुलामी मिली थी। वे किंकर्तव्यविमूढ थे। आखिर उनके दुश्मन कौन हैं? किसे मार गिराएं वे, जिससे उन्हें भी गुलामी से छुटकारा मिल जाए। देश के मालिक अंग्रेज़ थे, पर उनके मालिक नवाब, ज़मींदार और काश्तकार थे। उनकी हवेली और खेतों पर उन्हें दस-दस, बारह-बारह घण्टे कमर तोड़ मेहनत करनी पड़ती थी। तब जाकर उनके

परिवार को रोटी नसीब होती थी। वे गुलाम न थे पर उन्हें गुलामों की तरह रखा जाता था।"[1] स्वतंत्रता की चेतना ने जिन प्रश्नों को यहाँ के निम्नवर्ग के लोगों के समक्ष पैदा किया था, ऐसा नहीं था कि उनका समाधान इन लोगों को नहीं सूझ रहा था बल्कि आन्दोलन ने वह भी प्रस्तुत कर दिया था। इन प्रश्नों का समाधान उन्हें साफ-साफ दिखाई दे रहा था। मुक्ति की राह इन लोगों के समक्ष स्पष्ट हो चली थी। इसलिए ये उस पर चलने के लिए उद्यत हो उठे थे। इस उपन्यास में स्वतन्त्रता आन्दोलन के बाद दलित समाज में हो रहे परिवर्तन की उपरोक्त प्रवृत्तियों को पकड़ने का प्रयास किया गया है।

गुलामी का तिरस्कार

सदियों से दलितों को ज़मींदार, नवाब, काश्तकार आदि अपना गुलाम बनाकर काम ले रहे थे। बंशी ऐसा एक पात्र है जो नवाब अलीवर्दी खां के यहाँ नौकर है। जब तक वह हवेली पर रहता है तब तक वह नवाब साहब की हुकुम बदूली करता ही रहता है। वह सदा उनके गुस्से का शिकार होता रहता है जब कि उसका कोई कारण नहीं होता। नवाब साहब की गुलामी के अलावा बंशी के पास और कोई विकल्प न था। वह नौकर के रूप में एक इन्सान नहीं पशु था, बंशी मरता क्या नहीं करता। उसकेलिए तो मूँह से निकले नवाब साहब के एक-एक शब्द तामील करना था। वह भागकर बैठक खाने में आया और जैसे ही बंशी ने उसकी तरफ हथेली की नवाब साहब ने उस पर अंदर का बलगम थूक दिया। ढेर सारी

---

1. मोहनदास नैमिशराय मुक्तिपव पृ. 17

खंखार बंशी की हथेली पर उगल दी गई थी। नवाब साहब केलिए वही उगलदान था वही पीकदान। बंशी की आंखों में आंसू भर आए थे, पर मुँह से उफ् तक न की थी उसने। वैसे ही हथेली पर बलगम लिए बैठक खाने के बाहर आ गया था। उसके भीतर अंधड़ तूफान था। बाहर से वह बिल्कुल सहज।"[1]

अकेले बंशी की स्थिति नहीं थी बल्कि नवाबों और ज़मींदारों के यहाँ सभी नौकरों की यही स्थिति थी। इनकी गुलामी चरम पर ही थी। आज़ादी मिलने का समय करीब आ गया है। सुन्दरी, बंशी की पत्नी है जो गर्भ से ही अपने बच्चे और आज़ादी के विषय में सोचकर बहुत ही खुश है। जिस दिन देश आज़ाद होता है उसी रात सुन्दरी को प्रसव पीड़ा होती है, "पूरी बस्ती ने आज़ादी का सूरज देखा था। केवल सुन्दरी ने नहीं। उसे अफसोस था, पर प्रसव होने की खुशी भी थी। खुशी इस बात से कि आज़ादी की पहली सुबह में उसने बच्चे को जन्म दिया था। जो गुलाम देश में पैदा न हुआ था। आज़ादी का दिन उसकेलिए मुक्तिपर्व था।"[2] सुबह होते ही बंशी नवाब अली वर्दी खां के घर काम पर आ जाता है। लेकिन काम की बातों बातों में नवाब साहब आग बबूला हो जाते हैं, और उसको भला बुरा कहते हुए उसे गुलाम कह कर ज़लील करते हैं। बंशी जब इसका हल्का सा प्रतिरोध करता है तो नवाब हुक्के की चीलम खींचकर उसके मूँह पर दे मारते हैं। उसका सिर फूट जाता है। पुनः बंशी को डांट कर अपमानित करते हुए उसे अपनी आंखों के सामने से चले जाने को कहते हैं। बंशी उतना अपमान सहना नहीं चाहता था। वह पहली बार अपना प्रतिरोध

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 24
2. वही पृ. 26

व्यक्त करते हुए कहता है," हाँ, हाँ, जा रिया हूँ, मैं थुक्कूँगा भी नहीं हियां पर।"[1] अपना यह अंतिम फैसला सुना कर वह हवेली से बाहर निकल जाता है। बरसों की गुलामी की जंज़ीरें एक झटके के साथ टूट जाती हैं। यहाँ पहली बार बंशी अपने मालिक से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इसकेलिए उसे पहले कभी हिम्मत नहीं थी। देश की आज़ादी ने उसमें क्रान्तिकारी बदलाव पैदा किया था। पर वह अन्दर ही अन्दर इस बात को लेकर दु:खी भी था कि अगर ज़मींदारों और नवाबों का राज इसी तरह बना रहेगा तो आगे का जीवन कैसे संभालेगा।

धार्मिक भावना और रूढियों का उल्लंघन

दलित मुक्ति केलिए परंपरागत रूढियों का उल्लंघन करना होगा, यही उपन्यासकार यहाँ दर्शाता है। बंशी अपने बच्चे के खातिर उन सब का उल्लंघन करने केलिए तैयार हो जाता है जो उसके पुत्र के रास्ते में बाधा बन सकते हैं। इसलिए वह सारी परंपरागत गलत मर्यादाओं को तोड देने का निर्णय लेता है। उसको पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी। इसलिए वह खुशी से झूम उठा था। उसके सारे सपने साकार हो जाएँगे। वह बच्चे को लेकर तरह तरह की कल्पनाएं करने लगता है। वह उस को पढा-लिखाकर बड़ा आदमी बानाएगा। वह यह हरगिज़ नहीं चाहता कि उसका लड़का उसी की तरह नवाबों और ज़मींदारो की गुलामी करे। नवाब साहब बच्चे की बधाई देने उसके घर आते हैं पर उसके पीछे उनका स्वार्थ ही निहित था। कहते हैं कि तुम तो हमारे ही आदमी हो अब हमारे घर चाकरी नहीं करते तो क्या हुआ बच्चे को

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व. पृ. 28

हमारी हवेली पर काम करने भेजना। इतना सुनते ही बंशी स्पष्ट रूप में अपना क्रोध व्यक्त करते हैं।"नवाब साहब, न मैं अब किसी की गुलामी करूंगा, नहीं मेरा बच्चा..... मुझे गुलाम बने रहने की आदत नहीं नवाब साहब । वैसे भी देश अब आजाद हो गया है। अब न कोई किसी का गुलाम है न कोई किसी का मालिक। सब बराबर है।"[1] बंशी का तेवर देखकर नवाब साहब की हिम्मत न बन सकी कि वे बंशी के साथ पहले जैसा सलूक करें। वे चुपचाप उसके दरवाज़े से चले जाते हैं। यहाँ उपन्यासकार ने एक दलित को अपनी गुलामी से मुक्त होने केलिए किए गए हिम्मत पूर्ण सफल प्रयास को दर्शाया है। यहाँ बंशी मालिक के विरुद्ध अपना क्रोध व्यक्त करते हुए परंपरा से चली आ रही मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और एक नयी व्यवस्था की शुरुआत करना चाहता है। वह अपने बच्चे का नामकरण पण्डित की उपस्थिति का परवाह किये बिना पहले ही खुद कर लेता है। क्यों कि पंडित जी दलित बच्चों का नाम रगडू, झगडू, कालू, चेतु आदि ही रखा करते थे। बंशी ने अपने बच्चे का नाम सुनीत रखा ताकी उसके नाम में दलित पहचान न हो। हिन्दु परंपरा में नामकरण संस्कार पंडितों के द्वारा ही किया जाता है, लेकिन बंशी यह स्वयं करके सदियों से चली आ रही परंपरा को तोड़ देता है। यहाँ परंपरा को तोड़ना ही नहीं बल्कि पंडितों के विशेष अधिकार को चुनौती भी दे रहा है।समानता की लडाई में बंशी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 38

आर्यसमाज और दलित मुक्ति

आर्य समाजी रामलाल इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पात्र है। वह गाँव में स्कूल खोलने की व्यवस्था करता है। बस्ती के लोग सवर्ण रामलाल को पसन्द करते हैं, क्योंकि वही एक सवर्ण है जो बस्ती के लोगों से प्रेम और भाईचारे का सम्बन्ध रखते हैं। यह दलितों केलिए बहुत महत्वपूर्ण और सम्मानजनक बात थी। इसलिए बस्ती के लोग वफादारी के तौर पर बराबर उनके कार्यों और परेशानियों में साथ देते हैं। आर्य समाजी रामलाल का उद्देश्य भी हिन्दु धर्म में चली आ रही रूढियों और बुराईयों को समाप्त करना तथा अन्धविश्वास और कोरी मान्यताओं पर आधारित सिद्धान्तों और विचारों का खण्डन करना था। इसलिए एक तरफ जहाँ वे जातिवाद छुआछूत, कर्मकाण्ड आदि का विरोध करते रहे तो दूसरी तरफ इन सब क्रियाकलापों और व्यवहारों को धार्मिक रूप से प्रभावित करने वाली बातों को उन्होंने वेद विरुद्द बताया। जातिवाद का उन्होंने खण्डन तो किया, पर वर्णव्यवस्था को जन्मना न मानकर कर्मणा माना। कर्मकाण्डों का उन्होंने विरोध तो किया, पर वैदिक हवन और मन्त्र पाठ का समर्थन किया। इस तरह हिन्दू धर्म में सुधार लाने के साथ साथ दलितों में चेतना प्रदान करना और उन्हें समाज की मुख्य धारा में प्रतिष्ठित करना ही उनका लक्ष्य था।

रामलाल के प्रयास से बस्ती में स्कूल खुल जाता है। बहुत मुश्किल से अछूतों को पढाने केलिए लाला जाति से एक अध्यापक की व्यवस्था हो जाती है। स्कूल चालू हो जाता है। रामलाल के इस कृत्य से बस्ती के लोग अत्यधिक खुश हैं और उनके एहसानमन्द भी। लेकिन सामाजिक व्यवस्था इतनी गिरी हुई थी कि स्कूल

में पढाने केलिए कोई सवर्ण अध्यापक तैयार नहीं हुआ,"वे सभी अध्यापक सवर्ण थे। जो सरस्वती वन्दना करते थे। माथे पर तिलक लगाते थे, जनेऊ पहनते थे, चोटी रखते थे, गाय को माता कहते थे, सर्प को दूध पिलाते थे, कुत्तों को अपनी गोद में बिठाते थे, पर दलितों की परछाई से दूर भागते थे। उन्हें जानवरों, कीडों-मकोडों से प्रेम था, पर वे दलितों से घृणा करते थे। उनकी मानवता का दर्शन क्या था ? कुछ समझ में नहीं आता था, वे ढोंगी थे, पाखण्ड की केंचुली पहन समाज में अपना कारोबार चलाते थे।"[1] ऐसी सामजिक व्यवस्था में दलितों केलिए एक अध्यापक को उपलब्ध कराना आसान कार्य नहीं था और वह कार्य साध्य बनाने में रामलाल सफल हो जाता है। रामलाल ही एकमात्र व्यक्ति है जो दलितों को समझता और उनके साथ मानवीय व्यवहार करता है। बस्ती के लोग रामलाल से अत्यधिक प्रभावित हैं। वे अछूतों केलिए उतने कट्टर हिन्दु नहीं थे जितने कि अन्य। वे अछूतों से प्रेम करते थे। उनके सुख-दुःख में साथ देते थे। पर वे भी अपने हिन्दु संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं थे। बस्ती में स्कूल खुलवाकर उन्होंने बहुत बडा काम किया था। "कभी कभी लोग उनके घर पहूँच जाते। रामलाल के घर पर सभी को चाय मिलती थी और चाय के साथ बिस्कट भी। मुँह मीठा होते ही बस्ती के लोगों के भीतर की सारी कड़वाहट खत्म हो जाती । आक्रोश घुल सा जाता।"[2] उनके लगाव और सम्मानपूर्ण व्यवहार से बस्ती के लोग वफादारी के तौर पर बराबर उनके कार्यों और परेशानियों में साथ देते हैं।

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 37
2. वही पृ. 40

शिक्षा के क्षेत्र में दलित

दलित शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं। वे चाहते भी हैं कि बिना किसी रुकावट के अपने बच्चे शिक्षा प्राप्त करें। लेकिन सच्चाई तो यह है कि भारत के अधिकांश दलित अपने बच्चों को पढाई के बीच में से खींच लेने में मज़बूर है। यहाँ बंशी की बस्ती में स्कूल के खुल जाने पर एडमिशन लेने वाले बच्चों की भीड लग जाती है। बड़े उत्साह से दलित अपने बच्चों को दाखिला कराने के लिए आते हैं। स्कूल में आवश्यकता से अधिक दाखिला हो भी जाता है। पर जिस गति से एडमिशन लेने वाले बच्चों की संख्या बढी थी उसी गति से कुछ ही दिनों में उन की संख्या कम भी होने लगती है। बच्चे स्कूल छोडकर चले जाते हैं। अधिकांश दलित परिवार खेतिहर मज़दूर हैं या अपने छोटे-छोटे पारंपरिक धंधों में लगे हुए हैं। उनके इस काम में अपने बच्चे भी लगे रहते हैं। घर गृहस्थी की गाड़ी चलाने में अपने बच्चे भी पूरा-पूरा सहयोग देते थे। इसलिए बच्चों का काम और उनकी शिक्षा एक दूसरे के आड़े आते थे। खाने केलिए कुछ जुटा पाने के साथ शिक्षा भी प्राप्त करना उनके लिए समस्या है। शिक्षा और जीविका के संघर्षों में अधिकांश लोग आजीविका को ही महत्व देते थे, "बस्ती में जितने बच्चे, उनके उतने ही काम। पैदा होने से पहले ही उनके हिस्से में बाप के व्यवसाय का नाम लिख दिया जाता था। जाति का नाम तो माथे पर पहले ही गोद दिया गया था। वे छोटे कमरे में और बड़े कमरों की पांति में खड़े होने को तैयार हालांकि, काम करने के औजार उनके पास नहीं होते, पर काम करने के हुनर समझा दिए जाते। पर पढाई का हुनर सिखाने को कोई तैयार न था। कुछ कोशिश भी करते तो बीच में डगमगा जाते। वे आगे बढते-बढते हिम्मत

हार जाते। बचपन कब खत्म हुआ कब जवानी आयी कुछ पता ही न चलता था। मालूम जब होता तब समय से पहले बूढापे की लकीरें उनके शरीर पर उभरने लगती थीं।"[1]

बस्ती के स्कूल की स्थिति पूरी शिक्षा व्यवस्था पर एक टिप्पणी थी। तमाम व्यावहारिक पहलुओं को अनदेखा कर बनाई गयी नीतियाँ आने वाले समय में दलितों की शिक्षा की स्थिति में अत्यधिक गिरावट लाएँगी। स्कूल में बच्चों की उपस्थिति कम होने पर मास्टर ने उन लोगों के नाम काटने शुरु कर दिए। मास्टर की इस हरकत से आर्यसमाजी रामलाल चिंतित हो उठते हैं। उन्हें लगता है कि मास्टर की वजह से सब कुछ गडबड हो जाएँगे। वह तुरंत मास्टर जी के यहाँ जाते हैं और उन्हें समझाते हैं कि अगर वे इस गति से बच्चों के नाम काटते रहें तो जल्दी ही स्कूल बंद हो जाएगा। मास्टर जी श्रीवास्तव जाति के थे। वे भी अपने संस्कारों से मुक्त नहीं थे इसलिए बस्ती के बच्चों से सहानुभूति रखने में उन्हें थोडी परेशानी होती थी। इसलिए वे भी बच्चों के नाम काटने में न हिचकते थे। क्योंकि वे भी तो यही चाहते थे कि दलित के बच्चे न पढे-लिखें।

परिवर्तित दलित चेतना और दलित मुक्ति

बंशी में जब से आज़ादी की चेतना ने जन्म लिया तब से उसे समाज की कई असंगतियाँ साफ-साफ दिखाई देने लगीं। वह अपने तथा समाज के विषय में चिन्तित हो उठता है। अपने आप से बार-बार सवाल करता है कि उसकी ऐसी स्थिति क्यों है ? उसकी अपनी पहचान क्या है ? असके स्वाभिमान पर बार-बार क्यों चोट

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 43

की जाती है ? बंशी के पास अधिक विश्लेषण क्षमता नहीं है। लेकिन वह इतना तो समझ ही लेता है कि उसके साथ अन्याय किया जा रहा है। इसी दौरान बाबा साहब डॉ.बी.आर. अम्बेडकर का निर्वाण हो जाता है। यह घटना जंगल में आग की तरह फैल जाती है। दलित लोगों में शोक की लहर फैल जाती है। देश के अंखबारों एवं रेडियों पर उन्हीं की चर्चा होने लगती है। ये सारी बातें उसके दिमाग को धक्का लगा देती हैं। उसका चिन्तन धीरे धीरे स्पष्ट होने लगता है। उसकी और उसके समाज की ऐसी दयनीय हालत क्यों है? अब इसका उत्तर भी कुछ स्पष्ट होने लगता है।

बंशी का पुत्र सुनीत कक्षा पांच का विद्यार्थी है जो बडा होनहार और चेतना सम्पन्न है। वह अपनी कक्षाओं में हमेशा अव्वल आता रहा है। एक दिन की घटना उससे भूले नहीं भूलती। अपने पिता बंशी लाल के साथ पानी पीने केलिए वह एक प्याऊ पर जाता है। जहाँ पण्डित लोगों को पानी पिला रहा था। जब उसके पिता ने पानी पिलाने को कहा तो पंडित ने पानी लोटे से न पिलाकर उसमें नलकी लगाकर पिलाया। नलकी रबर की बनी एक पाइप होती है जो लोटे या गागर से पानी पिलाने के दौरान् लगा दी जाती है। उससे लाभ यह होता है कि अछुतों को पानी पिलाने के दौरान् गिरने वाले पानी के छीटे लोटे अथवा पानी पिलाने वाले के ऊपर नहीं पड़ते। पानी पीने की यह घटना सुनीत को परेशान कर देती है। वह अगले दिन स्कूल जाकर इस घटना का जिक्र अपने मास्टर और सहपाठियों से करता है और उससे सवाल करता है कि क्या पानी पिलाने वाले पंडित का आचरण सही था? लोगों ने कहा पंडित का आचरण गलत था। सुनीत पुनः कहता है कि जब पंडित का आचरण गलत था तो सभी लोग अभी चलकर वहीं पानी पीते हैं। इस पर

सभी लोग तैयार होकर पानी पीने के लिए पंडित के पास जाते हैं तो पंडित नलकी से पानी पिलाना शुरु करता है। तब सुनीत पंडित से नलकी छीनकर फेंक देता है।

सुनीत के इस तरह के व्यवहार से पंडित आश्चर्य चकित रह जाता है। वह मास्टर जी से शिकायत भरे अन्दाज़ में कहता है कि वह इन बच्चों को रोकने के बजाए उनका साथ दे रहे हैं। स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती हैं कि पुलिस आ जाती है। पुलिस के सामने पंडित की बोलती बन्द हो जाती है। अन्त में मामला उसी समय शान्त होता है जब पंडित कान पकड़कर माफी मांगता है। एक दलित परिवार के बच्चे के नेतृत्व में इस प्रकार की एक घटना का घटित होना महत्वपूर्ण बात होती है। यहाँ प्रचलित सामाजिक व्यवस्था पर एक दलित द्वारा प्रहार हुआ है और इसे समाज द्वारा स्वीकृति भी मिली है। इसका प्रमाण है पुलिस का आना और पंडित द्वारा कान पकडकर माफी मांगना। उपन्यास कार ने यहाँ परिवर्तित दलित चेतना को दर्शाने की कोशिश की है।

बाबा साहब और दलित मुक्ति आन्दोलन

दलितों के जीवन में चेतना जगाने में आर्यसमाजी रामलाल सदा दलितों के साथ ही है। लेकिन वह पूरे समाज से अकेले तो लड़ नहीं सकते थे। उनकी पूरी कोशिश है कि जिस बडे समाज के साथ अन्याय हो रहा है वे उस समाज को शक्तिशाली बनाने के लिए कार्य करते रहें ताकि वे खुद अन्याय के खिलाफ लड सके। बंशी मन ही मन सोचता है, "लोगों को दु:ख होता है हमारी आज़ादी से, पर हमारी मुक्ति के सवाल पर चुप्पी साध लेते हैं। हम स्वयं कुछ कहें तो हमें

आंखें दिखाते हैं। हम पर आग बबूला हो बरसते हैं। जैसे हम काठ के हों। हमारे भीतर संवेदनाएँ न हों। हमारे जिस्म में खून न बहता हो। हम कोई मुर्दा हों। अब हम गुलाम तो नहीं।"[1] एक अवसर पर बंशी अपने बेटे को यों धीरज बाँधता है, "बेटे, कितने भी परेशानी आए कभी आंसू मत बहाना। यह दुनिया किसी गरीब के आंसु देखकर रोती नहीं, बलिक हंसती है।"[2]

बाबा साहब के नाम और काम की चर्चा बस्ती में होने लगी है। परिवर्तन की चाह लिए नई पीढी में बाबा साहब के विचार घर करने लगे हैं। हालांकि, पुरानी पीढी में वैसा उत्साह नहीं दिखता जैसा कि नई पीढी में है। पर पुरानी पीढी के लोग भी नए लोगों को सुनने के लिए तैयार होने लगे हैं। बाबा साहब के आन्दोलन को लेकर बस्ती में पंचायत बुलाई जाती है। पंचायत में बाबा साहब के आन्दोलन पर चर्चा होती है। उसे और कैसे आगे बढाया जाए उस पर भी गंभीरता से विचार होता है। अंततः उसमें फैसला लिया जाता है कि बस्ती में एक पुस्तकालय खोला जाए जिस में बाबा साहब से संबंधित जितने भी साहित्य हैं उनको इकट्ठा किया जाए और दलित समाज में जितनी बुराइयाँ हैं उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाए। दूसरे ही दिन बस्ती की महिलाएँ गाँव में स्थित शराब की दुकान के खिलाफ आन्दोलन करती हैं। महिलाएँ और पुरष शराब की दुकान में घुसकर तोड़फोड़ करते हैं। पुलिस आती है लाठी चार्ज होती है। बड़ी मेहनत के बाद अंततः आन्दोलनकारियों को शराब की दूकान बन्द करवाने में सफलता प्राप्त होती है। इस तरह बस्ती में ही

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 64
2. वही पृ. 61

नहीं, बल्कि आसपास के क्षेत्रों में भी बदलाव की लहर दौड़ पड़ती है। इस प्रकार एक दलित आन्दोलन की सफलता को उपन्यासकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

शिक्षा के क्षेत्र में दलित के साथ अन्याय

समाज में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जहाँ दलित को कोई छूट हो। हर क्षेत्र में उन्हें अन्याय और शोषण का शिकार बनना पडता है। समाज में जितना भी परिवर्तन हो फिर भी यह तो एक सच्चाई है कि दलित बच्चों को अन्य उच्च वर्गीय बच्चों के समकक्ष बैठकर पढने का माहौल सजाने पर भी उसको अपमान सहनना ही पडता है। सुनीत का जूनियर हाई स्कूल में एडमिशन होता है। पहले ही दिन उसके अध्यापक द्वारा उसका और उसके पिता का यह कहकर अपमान किया जाता है कि वह बस्ती के स्कूल का छात्र है। वह चमारों के स्कूल से यहाँ पढने आया है। ऐसा कहकर उसका मज़ाक उडाया जाता है। पर सुनीत कक्षा में अच्छे अंकों से पास होकर आया है। इसलिए वह मेरिट के आधार पर मिलने वाली स्कालरशिप का फार्म भरना चाहता है। लेकिन उसका कक्षाध्यापक उसे जाति के आधार पर मिलने वाली स्कॉलरशिप का फार्म भरने को कहता है। जब सुनीत इस केलिए तैयार नहीं होता तो कक्षाध्यापक उसके फार्म पर साईन नहीं कर देता। जब फार्म जमा करने के अंतिम तारीख से एक दिन शेष रह जाता है तो वह सुमित्रा के माध्यम से प्रिंसिपल साहब से मिलता है और उससे सब हाल बताता है। प्रिंसिपल साहब फार्म जमा करवा दैते हैं। सुनीत इससे बहुत खुश होता है। प्रिंसिपल साहब की ईमानदारी और प्यार देखकर अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने की उसकी हिम्मत बढ़ जाती है। सोचता है समाज में कुछ बुरे इन्सान होते हैं तो कुछ अच्छे भी होते हैं। उसके दोस्त

सुमित्रा भी उसे यही बात समझाती है। लेकिन बंशी सुनीत से बराबर उसके कक्षाध्यापक से सावधान रहने को कहता है "बेटे, वह तुम्हारा शिक्षक नहीं दुश्मन है और दुश्मन से हमेशा सावधान रहना चाहिए। दुश्मन चाहे आम आदमी हो या खास आदमी। सवर्ण कभी भी नहीं चाहते कि हमारे बच्चे पढे लिखें। क्योंकि अगर वे पढ-लिख गए तो उन्हें गुलामी की फौज कहाँ से मिलेगी। उनकी सेवा टहल कौन करेगा? उनके जानवरों को चारा कौन खिलाएगा पानी कौन पिलाएगा? उनके बदन की मालिश कौन करेगा? उनकी मक्कारी से हमें बचकर रहना है। पर उनमें से ही कुछ की अच्छी बातों से हमें कुछ सीखना भी है। उनमें सभी बुरे नहीं है, अच्छे भी हैं, हमारे हाथ की अंगुलियाँ ही देखो। सभी तो बराबर नहीं। ऐसे ही इन्सानों की भी बात है।" [1]

जूनियर हाई स्कूल की परीक्षा में सुनीत प्रथम श्रेणी में पास होता है। वैसे तो वह अपने स्कूल में टाप करता। लेकिन स्कूल के कुछ आध्यापकों ने उसकी परीक्षा के परिणाम के साथ हेराफेरी की थी। इसलिए उसका स्थान दूसरा आया था। पहले स्थान पर किसी ब्राह्मण के लडके को रखकर टाप करा दिया गया। इस साजिश की जानकारी सुनीत को नहीं थी। एक दिन जब सुमित्रा उसे इस साजिश के विषय के बारे में बताती है तो उसे बेहद अफसोस होता है, " सुमित्रा के मूँह से यह सब बात सुनकर सुनीत को उबकाई सी आने लगी थी। जब अध्यापक ही ऐसी बात सोचेंगे तो फिर..... उसने कई बार किताबों में पढा था। अध्यापक देश के निर्माता होते हैं। क्या ऐसे ही अध्यापक देश के निर्माता होते हैं ? कैसा निर्माण करते हैं वे

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व. पृ. 77,78

देश का । उसके मन के भीतर बार-बार सवाल पर सवाल उठ रहे थे।"[1] लेकिन इन सारी घटनाओं से निराशा तो होती है पर साथ साथ उस के मन में अपने लोगों को मुक्ति दिलाने की चेतना और तीव्र हो जाती है और इसकेलिए वह कठिन प्रयत्न भी करता है।

शिक्षा का महत्व और दलित मुक्ति

पढाई में अव्वल आने पर बस्ती में सुनीत की मान-जान होने लगती है। सुनीत भी लोगों से अच्छी तरह मिलता है। लोगों को पढाने लिखाने का कार्य भी करता है। बस्ती में सुनीत की स्थिति देखकर और लोग भी पढने लिखने का कार्य करने लगता है। वे अपने बच्चों को भी पढाने केलिए उद्यत हो उठते हैं। इस प्रकार सुनीत के माध्यम से बस्ती के स्कूल में बच्चों की संख्या काफी बढने लग़ती है। लोग शिक्षा के महत्व को समझने लगे हैं, "जिनकी आँखों में रोशनी नहीं थी शिक्षा उनकेलिए नए उजाले की तरह थी। भोर होने पर जैसे पक्षियों का कलरव होता है, वैसे कोलाहल का आभास हुआ था बस्ती के लोगों को। वे मन्त्र-मुग्ध हो सुनीत की बातों को सुनते। वे बातें घडी की टिक-टिक की तरह उनके मन और तन पर दस्तक देती थीं। जीवन जर्जर था पर जीवन में उजाला देने वाला दर्शन जर्जर न था। वह शहर की इस बस्ती में भोर के उजाले की तरह था। वह उजाला जैसे बहुत दिन बाद उतरा था। उनके चारों तरफ तो घनघोर अंधेरा था। एक एक दिन एक एक़ रात लम्बी प्रतीक्षा थी। उजाले को तरस गए थे बस्ती के लोग। उन्हें स्थिति का आभास था, पर

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 113.

उस स्थिति का विश्लेषण करने की हालत उनके पास न थी, वे मिट्टी के उस लैंदे की तरह जहाँ तहाँ पडे थे। उन्हें छेडने वाला तथा उनकी सुध-बुध लेने वाला कोई न था। न जाने कौन से समय से वे ऐसी ही अवस्था में पडे थे। उनके भीतर बाहर असीम सी कसमकस थी। ऐसा न जाने कब तक चलता रहता अगर बस्ती में स्कूल न खुलता।"[1]

करतारा जो झाडू लगाने का कार्य करता है उसके लड़के को स्कूल में एडमिशन देने में कक्षाध्यापक उतना रुचि नहीं दिखाते। जब सुनीत को इस बात का पता चलता है तो वह प्रिंसिपल साहब से कहकर उसको दाखिला करा देता है। इतना ही नहीं करतारा की लड़की भूरी को भी स्कूल में दाखिला करा देता है। सुनीत करतारा को बताता है कि हम लोग एक ही समाज से आते हैं, लेकिन कई जातियों में बांट दिए जाने के कारण हम एक नहीं हो पाते। जाति के आधार पर हम लोगों को इकट्ठा नहीं होने दिया जाता। करतारा भी सुनीत की बात से अपनी सहमति जताता है। उसी दिन से दोनों में एक मूक सहमति बन जाती है कि वे मिलकर अपने समाज में एकता लाने केलिए कार्य करेंगे।

सुमित्रा का सम्बन्ध सम्पन्न सवर्ण परिवार से था। उसके घर में पढने-लिखने का अच्छा माहौल था। कहानियों की तमाम छोटी-मोटी पत्रिकाएँ उसके यहाँ आती थीं। वह उन कहानियों को पढती थी। उन्हीं कहानियों और सामाजिक अनुभवों के तहत उसके व्यक्तित्व का गढन हुआ था। उसके पिता आर्य समाजी थे। इसलिए

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 90, 91.

वह भी आर्य समाजियों की कई सभाओं में भाग लेती थी। उन के क्रियाकलापों से उसमें सुधारवादी चेतना का विकास हुआ था। समाज में फैली हुई तमाम बुराइयों से वह लड़ना चाहती है। सुनीत जैसा जो साथी उसको मिला था वह उसके उद्देश्यों और सपनों का हमसफर था। उसी तरह सुनीत केलिए भी वह उसकी अच्छी मित्रा थी। दोनों के विचार आपस में मिलते हैं। दोनों की रुचियाँ समान हैं। दोनों की मंज़िलें एक हैं। याने कि सामाजिक परिवर्तन। इतनी सारी समानताओं को लेकर दोनों एक दूसरे से अलग कैसे रह सकते थे। दोनों में प्यार हो जाता है। उन का प्यार बहुत ही मूक एवं समर्पित है। दोनों अलग-अलग स्कूल में पढते हैं, पर पुस्तकालय में इन दोनों की मुलाकात बराबर होती रहती है। हाइ स्कूल की परीक्षा दोनों ने प्रथम श्रेणी में पास की। पढाई के बाद दोनों टीचर की ट्रेनिंग लेते हैं। इसके बाद दोनों ही अपनी बस्ती के स्कूल में पोस्टिंग लेते हैं। शिक्षक बनने के बाद सुनीत को वे सब कुछ मिल जाते हैं जिनकी उसे चाहत थी।

समाज में क्रान्ति लाना उसका एक सपना था। वह सपना तभी पूरा हो पाएगा जब उसके समाज के लोग शिक्षित हों, चेतना सम्पन्न हों। आज वह अध्यापक बनकर लोगों को शिक्षित और चेतना सम्पन्न बना सकेगा जिससे सदियों से गुलामी झेल रहे उसके समाज के लोगों को उससे मुक्ति मिलेगी। अपने इस कार्य में वह अकेला नहीं है, अब सुमित्रा भी है, "सुमित्रा अभी हमें बहुत बडी ज़िम्मेदारी पूरी करनी है। क्या यह अच्छा होगा कि हम उसी ज़िम्मेदारी को मित्र बनकर निभाएँ।"[1] यहाँ सुनीत सुमित्रा के साथ मिलकर बहुत कार्य समाज में पीछे रहने वाले अपने

---

1. मोहनदास नैमिशराय, मुक्तिपर्व, पृ. 139

लोगों केलिए करने का निश्चय ले रहा है। क्यों कि वह जानता है कि अपने लोगों को समाज के उच्च स्तर तक लाने केलिए उन्हीं के समाज के पढे लिखे लोगों का श्रम ही चाहिए। इसलिए वह इस कार्य को अपना कर्तव्य मानकर हमेशा उनका साथ देता ही रहता है।

पिछडेपन की असलियत

इस अध्याय में चर्चित उपन्यासों में दलितों पर किये जा रहे अत्याचारों का वर्णन मिलता है। इनमें दलित शोषण की समस्या ही केन्द्रीय समस्या है। दलितों की अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है। इसलिए शोषण की कहानी वहीं से ली गयी है। तमाम परिवर्तनों के बावजूद आज भी गाँव का इतिहास जातिवाद और सामंतवाद पर अवस्थित है। वहाँ किसान, मज़दूर, ज़मींदार, पुरोहित, साहूकार, कारीगर जैसी विभिन्न जातियों के लोग हैं। उन जातियों की अपनी परिभाषाएँ हैं। गाँव की संरचना इन परिभाषाओं पर चलती है। उसका हानि-लाभ भी इन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित होता है। क्यों कि उसका संचालन वर्णाश्रम व्यवस्था के नियमों द्वारा होता है। गाँव का दलित समाज खेतिहर मज़दूर है। उनकी आजीविका ज़मींदारों के खेतों से चलती है। दलितों की आर्थिक व्यवस्था भी इन की कृपा पर निर्भर है। जीवन बिताने केलिए भोजन और अर्थ की आवश्यकता होती है। उसके लिए दलित समाज इन उच्च कही जाने वाली जातियों पर आश्रित है। खेतिहर मज़दूर के रूप में उनकी आमदनी इतना कम है कि इससे दैनिक जीवन की अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। किसी अन्य विकल्प के अभाव में पूरा समाज जीने केलिए मज़दूरी में ही लगा रहता है। इसलिए विवश होकर उन्हें सामन्तों ज़मीन्दारों की गुलामी करनी ही

पड़ती है। इनकी आर्थिक परनिर्भरता ही इनके शोषण का मूल कारण है। आर्थिक विपन्नता के साथ ही इनकी महिलाओं का शारीरिक शोषण भी होता है। उनके साथ बलात्कार होता है। इनसे बेगार और गुलामी कराई जाती है। इसी के चलते ही बार-बार इनके स्वामित्व पर चोट पहूँचायी जाती है। अगर वे इसकी रक्षा की कोशिश करते हैं तो उनके साथ मारपीट की जाती है। यहाँ तक कि इनकी हत्या भी की जाती है।

जातीय घृणा के पात्र होने के कारण इनके समर्थन में कोई आता नहीं। अगर ये अपनी समस्या लेकर शासन प्रशासन के पास जाते हैं तो वहाँ भी इनकी सुनवायी नहीं होती। क्यों कि वहाँ तो वही लोग हैं जो गाँवों में इनका शोषण करते हैं। इन्हें इनका अपना कोई संगठन नहीं है जिनके माध्यम से अपनी लड़ाइ लड सकें। इस तरह इनके गुलाम बने रहने की प्रक्रिया चलती रहती है। यही गुलामी आने वाली पीढी केलिए संरक्षित रहती है। इन उपन्यासों में चित्रित समस्याओं में एक मुख्य समस्या शिक्षा के अभाव की समस्या है तो आर्थिक विपन्नता दूसरी समस्या है। शिक्षा की कमी एवं आर्थिक विपन्नता ने ही इन लोगों को समाज में हमेशा पीछे रखा है। आर्थिक तंगी के कारण स्कूल जाने के बदले बच्चे माँ-बाप के साथ रोज़ी रोटी कमाने में लग जाते हैं। स्वाभाविक है पढना-लिखना तो बाद में पहले जिन्दा रहना ज़रूरी है। किसी तरह कुछ बच्चे स्कूलों में दाखिला ले लेते हैं तो जाति के नाम पर उनका अपमान किया जाता है। क्योंकि स्कूलों और कॉलेजों का स्वामित्व तो उन्हीं वर्गों के हाथों में है। इसलिए इनको बार बार हतोत्साहित किया जाता है। जब तक ये शिक्षित नहीं बन पाते तब तक अर्थव्यवस्था के लाभकारी क्षेत्रों में वे प्रवेश नहीं कर पाते। अशिक्षा के कारण अपनी वर्तमान स्थितियों का विश्लेषण करने में ये

असमर्थ ही रहते हैं। परिणामतः अपनी मुक्ति का रास्ता नहीं निकाल पाते। इस तरह मुक्ति संघर्ष के तमाम संसाधनों के अभाव में गुलामी का अभिशाप भोगने केलिए विवश है दलित वर्ग।

वर्तमान समाज के दलितों की स्थिति ही चर्चित उपन्यासों का मूल विषय है। पर यहाँ एक विशेष मुद्दे पर ध्यान देना ज़रूरी है। अब तक के किसी भी उपन्यास में दलितों द्वारा किसी सशक्त आन्दोलन को चलाने का या उस पर विजय हासिल करने का चित्रण नहीं हुआ है। पर उनकी तरफ सहानुभूति परक गैर दलित उपन्यासों का सृजन काफी हुआ भी है। पर इस अध्याय में चर्चित उपन्यासों में इस से भिन्न दृष्टिकोण दिखाई देता है। इनमें दलित समाज विभिन्न माँग प्रस्तुत करता है जो अपनी सजगता का परिचायक है। जैसे मज़दूरी की मांग करना, भूमि की मांग करना, शासन प्रशासन में भागीदारी की मांग करना। शिक्षा की मांग करना, जातिवादी अत्याचारों से लड़ने केलिए आग्नेय अस्त्रों की मांग करना, मीडीया में अपनी भागीदारी की मांग करना, निजी क्षेत्रों में भी आरक्षण की मांग करना,, राज्य से इन मांगों को मनवाने केलिए संगठन बनाकर संघर्ष करना। सामाजिक बुराइयों को दूर करने केलिए सामाजिक संगठन बनाना, अन्तर्जातीय विवाह करना, अन्धविश्वासों के खिलाफ चेतना पैदा करना, शोषण के विरुद्ध लडने केलिए लोगों को जागरूक करना आदि। इन सबसे बढकर इन उपन्यासों के नायक प्रायः पढ-लिखकर अधिकारी या नेता बनने के बदले सामाजिक आन्दोलन चलाकर अपनी जातीय हैसियत को बदल लेने में अपने आप को समर्पित करते हुए दिखाई देते हैं। यह निस्सन्देह दलित मुक्ति की लडाई केलिए शुभ संकेत है। इन सारे उपन्यासों की एक खासियत यह है

कि इनमें किसी राजनैतिक दल का समर्थन नहीं हुआ है। सभी दलों की आलोचना करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि कोई भी दल दलित के साथ नहीं है। सबके सब दलितों के शोषण करने में या इस्तेमाल करने में होड मचा रहे हैं। उन सब केलिए वे वोट बैंक हैं। वे सब आरक्षण देकर उन्हें अलग रखना चाहते हैं। उन्हें दलितों के उद्धार की कोई अलग अजेण्डा नहीं है। इस मानसिकता को भली भाँति दलित रचनाकारों ने पहचान लिया और उन्होंने सभी दलों की उपेक्षा करके अपनी अलग राजनीतिक दृष्टि बना ली है। वह दलित समाज की अस्मिता को बनाए रखने केलिए संघर्षरत रहता है। इसलिए दलितों ने दलित मुक्ति का आन्दोलन खुद चलाना शुरु किया। इसके अन्तर्गत शिक्षा व्यवस्था पर विशेष ज़ोर देना आन्दोलनकारियों का प्रमुख एजेंडा है। दलित मुक्ति का इनका अपना विजन है। वे समाज सुधार में दलित मुक्ति की संभावना नहीं देखते, बल्कि व्यवस्था परिवर्तन देखते हैं। यह तभी संभव होगा जब भूमि का राष्ट्रीयकरण होगा, उद्योग धन्धों पर राज्य का स्वामित्व होगा, शिक्षा व्यवस्था का संचालन राज्य के हाथ में होगा, राज्य के संचालन में दलितों की भागीदारी होगी, बीमा क्षेत्र पर भी राज्य का नियन्त्रण होगा। बिना इस तरह के मूलभूत परिवर्तनों के व्यवस्था परिवर्तन का कार्य संभव नहीं। इन आन्दोलनकारियों और चिंतकों के अनुसार व्यवस्था परिवर्तन में राज्य की विशेष भूमिका होगी। इस प्रकार दलित रचनाकार वर्तमान व्यवस्था को बदलकर एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना का सपना देखते हैं जिसमें जाति केन्द्रित विभाजन न हो तथा राज्य एवं राष्ट्र के गठन, निर्माण एवं संकल्पना में दलितों का समान भागीदारी हो। दलित उपन्यासों के अंतरंग में प्रवाहित विचारधारा यही है।

.....🕮.....

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य और राजनीति का अन्तरसंबंध निर्विवाद का है। दोनों का मकसद लोक मंगल ही है। समाज में खुशहाली लाना तथा जनहित को लक्ष्य करके प्रशासन का सुचारु संचालन करना ही राजनीति का लक्ष्य है। इस विषय में कोई तर्क नहीं है कि राजनीति सत्ता केलिए संघर्ष करती है जब कि साहित्य जनमानस की आशा एवं अभिलाषा को रुपायित करने के साथ सांथ वर्तमान असंगतियों के खिलाफ समझौता विहीन संघर्ष को भी प्रश्रय देता है।

ब्रिटीश शासन में शासकों तथा उनकी राजनीतिक गतिविधियों की आलोचना करना कोई सरल कार्य नहीं था। फिर भी उस युग के कुछ साहित्यकारों ने अपने अपने ढंग से विदेशी शासन की आलोचना करने का साहस उठाया था। उन में प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, राधिका प्रसाद, रांगेय राघव, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा जैसे रचनाकार प्रमुख हैं। उन्होंने विदेशी दमन नीति के खिलाफ लिखने तथा देशवासियों को जागृत करने केलिए अपनी लेखनी का जैसा उपयोग किया था उसके मूल में ठोस राजनीतिक धरातल दर्शनीय है।

स्वाधीनता परवर्ती उपन्यासों में भारतीय राजनीति का बदलता हुआ रूप द्रष्टव्य है जिससे आम आदमी बिलकुल असन्तुष्ट है। क्यों कि स्वतंत्रता आम आदमी को नहीं मिली बल्कि कुछ ऐसे लोगों को मिली जो समाज के उच्च वर्ग थे। इसलिए स्वतंत्रता का जैसा प्रभाव लोगों पर पडना था वैसा नहीं पडा। स्वतंत्र भारत में भी जनता अपने को कई दृष्टियों से अस्वतंत्र एवं आश्रयहीन महसूस करने लगी। इसका मुख्य कारण राजनीति का नैतिक पतन था। राजनीति

भ्रष्ट हो गई। प्रशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने के उपरांत राजनीतिक नेता एवं उसके अनुयाई लोग सत्ता का सुख भोगने में लग गए। आम आदमी के साथ के अपने दायित्वों को सुविधापूर्वक भूलने लगे। जन सेवा का अर्थ ही बदल गया, वे स्वजनों की सेवा में लग गए। इस प्रकार जनता के मन में राजनीति और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति सन्देह पैदा होने लगे। इस बदली हुई मानसिकता का चित्रण यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त, नरेश मेहता, अमृतलाल नागर, देवराज, राजेन्द्र यादव, हरिशंकर परसाई, फणीश्वर नाथ रेणु, भीष्म साहनी जैसे सूक्ष्म द्रष्टा रचनाकारों के उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है।

समकालीन उपन्यासों में इस मानसिकता का कुछ विकसित रूप हम देख सकते हैं जो व्यावहारिक राजनीति के पतन के खिलाफ का प्रतिरोध मात्र नहीं बल्कि देश की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समझ के परिणाम स्वरूप उत्पन्न राजनैतिक चेतना का ही परिणाम है। यहाँ उपन्यासकार देखते हैं कि कैसे राजनीति और धर्म का अनैतिक गठबंधन देश विभाजन के संदर्भ में हुआ है और कैसे उसने जन जीवन को दुःखद बना दिया है। दरअसल धर्म और राजनीति का वास्तविक लक्ष्य जनहित है। लेकिन जब इन दोनों का गलत इस्तेमाल किया जाता है तब वे जनहित के खिलाफ के बन जाते हैं। भारत विभाजन में यही हुआ था। कुछ सत्ता लोलुपों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के हेतु धर्म का गलत उपयोग किया। धर्म का उपयोग जब स्वार्थ केलिए किया जाता है तब वह सांप्रदायिकता बन जाता है। वास्तव में हिन्दुस्तान को भारत और पाकिस्तान में विभजित करने के पीछे आम आदमी की कोई इच्छा नहीं थी। वह सिर्फ सत्तालोलुप लोगों का कारामात था। यशपाल द्वारा लिखित 'झूठा सच' भीष्म साहनी का 'तमस', राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' एवं 'टोपी शुक्ला', कमलेश्वर

के 'लौटे हुए मुसाफिर एवं 'कितने पाकिस्तान' यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'एक और मुख्यमंत्री' जैसे उपन्यासों में रचनाकारों ने विशाल राजनीतिक चेतना के तहत संपूर्ण मानवीयता के अपमान के यथार्थ का पर्दाफाश किया है।

भारत विभाजन के समान आपात्काल भी भारतीय इतिहास की एक अवाँछित घटना थी। मनुष्य के सभी स्वातंत्र्य को समाप्त करके पूरे भारत में दुश्शासन का ताण्डव हुआ था। राही मासूम रज़ा का 'कटरा बी आर्जू', यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'प्रजाराम', मुद्रा राक्षस का 'शांति भंग' निर्मल वर्मा का 'रात का रिपोर्टर', धीरेन्द्र अस्थाना का 'समय शब्द भर नहीं है' आदि उपन्यासों के द्वारा यह साबित हुआ है कि आपात्काल की घोषणा के पीछे स्वार्थता के अलावा और कोई कारण नहीं था। सभी नैतिक मूल्यों की अवहेलना करते हुए किसी न किसी प्रकार सत्ता पर बने रहने के सत्ताधारी लोगों के अनैतिक आचरण का ही परिणाम है। तत्कालीन भीषणता एवं क्रूरता को उपन्यासकारों ने अपनी रचना में दर्शाया है। रचनाकारों ने इस कालखण्ड को (1975-1977) अंधकार युग कहा और यह प्रजातंत्र के खिलाफ का षड्यंत्र एवं फासिस्ट दृष्टिकोण का परिणाम साबित हुआ है। वास्तव में इन उपन्यासों में रचनाकारों ने मानव जीवन पर छाए हुए आतंक की स्थिति को देश की राजनैतिक विरासत के संदर्भ में देखने परखने का कार्य किया है।

नारी मुक्ति आन्दोलन नारी जागरण का परिणाम है। नारी अपनी हैसियत केलिए लडती है। उसने अनुभव किया कि उसके चारों तरफ शोषण का जाल बिछा हुआ है। आज के संदर्भ में नारीमुक्ति का जो आन्दोलन हुआ उसके पीछे नारी शोषण के खिलाफ की विद्रोही मानसिकता है। स्वतंत्र भारत में नारी राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं परिवार में, दफ्तर में सब कहीं शोषित है। इस शोषण के विभिन्न पहलुओं को महिला उपन्यासकारों ने चित्रित किया है। स्त्री उपन्यासकारों ने इसलिए अपने निजी अनुभव क्षेत्र को अनावृत करते हुए स्त्री विषयक नई

मानसिकता को प्रश्रय दिया है। साठोत्तर याने समकालीन संदर्भ में बहुत सारे स्त्री उपन्यासकार निकली हैं जिनकी रचनाओं में नारी अस्मिता को लेकर नई दृष्टि का पर्दाफाश हुआ है। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री पुर्णत शोषित है। पुरुष स्त्री को समान अधिकार देने केलिए तैयार भी नहीं । यद्यपि आधुनिक संन्दर्भ में बहुत सारी स्त्रियों ने राजनीति के क्षेत्र में भी अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया है तथापि अधिकांशतः स्त्रियों की उपेक्षा ही होती जा रही है। उन्हें विभिन्न प्रकार से शोषण का शिकार भी बना लेते हैं। इसकेलिए सभी राजनीतिक पार्टियाँ एक जैसी हैं। वे अपने अपने ढंग से स्त्री का इस्तेमाल कर रही हैं। इन शोषणों के विभिन्न आयामों को मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' एवं 'आल्मा कबूत्तरी', चित्रा मुद्गल का 'आँवां', रमणिका गुप्ता का 'सीता' जैसे उपन्यासों में दर्शाया गया है। इन उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट हो उठता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नारी की जीवन दृष्टि ही बदल गई है। वे पुरुष के साथ कंधे से कंधे भिडाकर आगे बढने केलिए सक्षम बन गई हैं। यह भी नहीं देश के भविष्य को निर्धारित करने में भी उसकी वही भूमिका है जो पुरुष की है। वर्तमान संदर्भ में देश के महत्वपूर्ण पदों एवं कुर्सियों पर नारी आसीन है। लेकिन फिर भी उसे पुरुष के समकक्ष मानने और स्थान देने में अब भी संकोच जारी हैं। कोई भी राजनीतिक पार्टी नारी को समान अधिकार देने के पक्ष में नहीं है। सब पार्टियाँ इन्हें लंबे लंबे वादे देती हैं पर मौके पर उससे अनायास फिसल जाती हैं। इसलिए स्त्री उपन्यासकार किसी भी पार्टि के पक्ष में न खडे होकर वे स्त्री के पक्ष में अडिग रहकर अपने मुक्ति संघर्ष को जारी रखती है।

लगभग 1980 के आसपास हिन्दी साहित्य में एक नया आन्दोलन शुरू हुआ वह है दलित आन्दोलन। उनकी दावा है कि दलितों के जीवन को लेकर अब तक जितने साहित्य रचे गए हैं वे दलित साहित्य कहने योग्य नहीं। क्योंकि वे सब गैर दलित रचनाकारों द्वारा लिखे गये हैं। इसलिए उनमें दलित जीवन के अनुभवों की प्रामाणिकता नहीं। वे सब सिर्फ अनुकंपा

से प्रेरित रचनाएँ हैं। उन रचनाओं की परंपरा को वे नकारते हैं और कहते हैं कि अपनी कोई साहित्यिक परंपरा नहीं है। हम अपनी वास्तविक परंपरा को खोज रहे हैं नहीं तो गढने के प्रयत्न में हैं लंबे अरसे से दलित जिस सामाजिक निषेध को भोगता आ रहा था उसके खिलाफ की विद्रोही भावना इस मानसिकता में सक्रिय है। दलित साहित्य सचमुच अपनी अस्मिता की पहचान का साहित्य है। युगयुगों से पीडित, उपेक्षित, शोषित, जनता की आत्म पहचान का साहित्य है। इसलिए उनकी दावा जो है उसमें अर्थवत्ता है। अपने अनुभव की ऊष्मा में तप कर जो साहित्य बाहर आया है उस में जीवन की तपिश है इमानदारी है। जयप्रकाश कर्दम का 'छप्पर' मोहनदास नेमिशराय का 'मुक्तिपर्व' सत्य प्रकाश का 'जस तस भई सबेर' जैसे उपन्यासों में दलित जीवन की भीषणता के अनेक पहलू अनावृत हुए है।

दलित साहित्यकार गैर दलित साहित्यकारों का या उनके द्वारा किए गए प्रयत्नों का विरोध नहीं करते बल्कि उनकी मानसिकता का ही विरोध करते हैं। क्यों कि गैर दलितों के दलित उपनयासों में उन के किसी सशक्त आन्दोलन का या उनकी विजय का चित्रण नहीं दिखाया गया है। वे उनकी तरफ सिर्फ सहानुभूति दिखाते हैं। उनका उद्धार मानों उनका औदार्य है। ऐसी मानसिकता उन रचनाओं में झलकती है। पर दलित उपन्यासकारों के उपन्यासों में बदली हुई मानसिकता है। वे अपनी हक केलिए लडते हैं, संघर्ष करते हैं। वे सवर्ण मानसिकता पर व्यंग्य करते हैं। मज़दूरी की मांग करना, भूमि की मांग करना, शासन प्रशासन में भागीदारी की मांग करना, शिक्षा की मांग करना, मीडीया में अपनी भागीदारी की मांग करना, आरक्षण की मांग करना, राज्य से इन मांगों को मनवाने केलिए संगठन बनाकर संघर्ष करना इस बदली हुई मानसिकता का परिणाम है। इसके साथ ही सामाजिक बुराइयों को दूर करने केलिए सामाजिक

संगठन बनाना, अन्तर्जातीय विवाह करना, अन्धविश्वासों के खिलाफ चेतना पैदा करना, शोषण के विरुद्ध लडने केलिए लोगों को जागरूक करना आदि भी इन उपन्यासों की विशेषता है। यह दलित आन्दोलन की लडाई का शुभ संकेत है। इन्होंने किसी राजनैतिक दल का समर्थन नहीं किया है। सभी की आलोचना करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि कोई भी दल दलित के साथ नहीं है। सबके सब दलितों का इस्तेमाल करने में होड मचा रहे हैं। उन सब केलिए वे वोट बैंक हैं। वे सब उन्हें आरक्षण देकर अलग रखना चाहते हैं। दलितों के उद्धार की कोई अलग अजेण्डा उन्हें नहीं है। इस मानसिकता को भली भाँति दलित रचनाकारों ने पहचान लिया और उन्होंने सभी दलों से अलग रहकर अपनी अलग राजनीतिक दृष्टि बना ली है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठ के बाद के उपन्यासों में राजनीति का बिलकुल अलग चेतना ही सक्रिय है। वे पार्टी पोलिटिक्स के खिलाफ खडे होकर ऐतिहासिक एवं सांकृतिक सन्दर्भ में वर्तमान की समीक्षा करते हैं। वे वर्तमान समय की राजनीति के मुखौटे को हटा देते हैं और सच्चाई को दिखा देते हैं। इस प्रकार सन् साठ के बाद की राजनीतिक चेतना राजनीतिक मूल्यों सदाचारों एवं आदर्शों के विघटन से आम आदमी को सचेत कराते हुए उसको पुनः सृजित करने की जिम्मेदारी से उन्हें अवगत कराती है। यह दरअसल समकालीन रचनाकारों की नई राजनैतिक समझ का परिणाम ही है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो उठी है कि प्रत्येक गौरवपूर्ण रचना रचनाकार के किसी न किसी प्रकार के प्रतिरोध की आवाज़ है। रचनाकार सूक्ष्म द्रष्टा एवं दीर्घदर्शी होते हैं। वे व्यक्ति, समाज, देश एवं विश्व का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहते हैं। वे समाज के सदस्य हेते हुए भी उस से दूर रहकर उसके सत्-असत् का विवेचन करते रहते हैं। यह दरअसल

रचनाकार की रचनाधर्मिता की असलियत है। इस अध्ययन में हमने देखा कि बहुत सारे रचनाकारों ने राजनीति की वर्तमान स्थिति को लेकर काफी चिंतित हैं। क्यों कि राजनीति के स्वरूपों में, मूल्यों में आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाई देता है। उसका गमन सत् की ओर नहीं असत् ओर है। याने कि वह जन-हित की ओर नहीं बल्कि उस के अहित की ओर अग्रसर है। इस प्रकार समाज में जब जनता के अहित की सूचना मिलती है तो क्राँतदर्शी कलाकार उसके खिलाफ अपनी आवाज़ बुलन्द करते हैं या करने केलिए विवश बन जाते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यास में राजनीति को लेकर रचनाकारों की आशंका का कारण यही है कि वह अपने वास्तविक धर्म से विचलित हो गई है। इसलिए वे राजनीति की गलत रुझान को रोकना चाहते हैं नहीं तो अपना सख्त प्रतिरोध व्यक्त करना। इसका परिणाम समकालीन हिन्दी उपन्यासों में काफी स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। इसलिए समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चित्रित राजनीति के विभिन्न रूपों को उस सन्दर्भ में आँकना चाहिए। क्यों कि हिन्दी उपन्यास हर सन्दर्भ में समाज केन्द्रित ही रहा है और रहता आया है। इसलिए समाज के प्रत्येक परिवर्तन से वह भी आन्दोलित रहता है।

...🕮...

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूचि

अध्ययन केलिए चयनित उपन्यास

1.	अमृत और विष	अमृतलाल नागर लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (तृ.सं.1971)
2.	आँवां	चित्रा मुद्गल सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 1999)
3.	आधा गाँव	राही मासूम रज़ा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (द्वि.सं.1971)
4.	आल्मा कबूत्तरी	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 2000)
5.	उखडे हुए लोग	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली (प्र.सं. 1956)
6.	एक और मुख्यमंत्री	यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र नाशनल पब्लि, नई दिल्ली (प्र.सं.1969)
7	एक टुकडा इतिहास	गोपाल उपाद्याय (सं. 1975)
8.	कटरा बी आर्जू	राही मासूम रज़ा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (प्र.सं.1978)
9.	कर्मभूमि	प्रेमचन्द सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1968)
10.	कायाकल्प	प्रेमचन्द सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1968)
11.	काली आँधी	कमलेश्वर राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, (सं.1981)
12.	कालेकोस	बलवंत सिंह सरस्वती प्रकाशन, बनारस (सं. 1957)

13. कितने पाकिस्तान	कमलेश्वर राजपाल आन्ड सन्स, नई दिल्ली (प्र.सं.2000)
14. गंगा मैया	भैरव प्रसाद गुप्त रचना प्रकाशन, इलाहाबाद (प्र.सं. 1972)
15. गोदान	प्रेमचन्द सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1970)
16. चाक	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 1997)
17 चोटी की पकड	निराला किताबमहल प्रकाशन, इलाहाबाद, मुम्बई,दिल्ली(1958)
18. छप्पर	जयप्रकाश कर्दम संगीता प्रकाशन, दिल्ली, (प्र.सं. 1994)
19. जल टूटता हुआ	रामदरश मिश्र हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी (प्र.सं. 1961)
20. जसतस भई सबेर	सत्यप्रकाश कामना प्रकाशन, नई दिल्ली (प्र.सं. 1998)
21. जयवर्धन	जैनेन्द्र कुमार (सं. 1956)
22. जल टूटता हुआ	रामदरश मिश्र हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी (प्र.सं. 1961)
23. झूठा सच	यशपाल सं.1963
24. टेढ़े मेढ़े रास्ते	भगवती चरण वर्मा (सं.1946)
25. टोपी शुक्ला	राही मासूम रज़ा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (प्र.सं.1971)

26. तमस	भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (1973 प्र.सं.1973)
27 धरती धन-न अपना	जगदीश चन्द्र राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (प्र.सं. 1972)
28. नरक कुंड में बाँस	जगदीश चन्द्र यात्री प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1994)
29. पथ की खोज	डॉ.देवराज (सं.1951)
30. परती परिकथा	फणीश्वर नाथ रेणु राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (तृतीय.सं.1966)
31. परिशिष्ट	गिरिराज किशोर (सं.1984)
32. प्रजाराम	यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र नाशनल पब्लि, नई दिल्ली (प्र.सं.1983)
33. प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1968)
34. बलचनमा	नागार्जुन राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (प्र.सं.1952)
35. बाबा बटेसर नाथ	नागार्जुन राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, (द्वि.सं.1971)
36. बूँद और समुद्र	अमृतलाल नागर लोकभारती, इलाहबाद, (तृतीय.सं.1979)
37 भूले बिसरे चित्र	भगवतीतचरण वर्मा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (1950)
38. महाभोज	मन्नू भण्डारी (सं.1979)
39. मैला आँचल	फणीश्वर नाथ रेणु राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (छठा.प्र. 1969)

40. मुक्तिपर्व	मोहनदास नेमिशराय अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 1999)
41. यथाप्रस्तावित	गिरिराज किशोर (सं.1982)
42. यह पथ बन्धू था	नरेश मेहता हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार, बंबई-4 (प्र.सं.1970)
43. रंगभूमि	प्रेमचन्द सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1969)
44. रात का रिपोर्टर	निर्मल वर्मा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (प्र.सं.1989)
45. लौटे हुए मुसाफिर	कमलेश्वर लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1998 षष्ठ सं)
46. शांतिभंग	मुद्राराक्षस सं.1982
47 सति मैया का चौरा	भैरव प्रसाद गुप्त नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद (प्र.सं.1951)
48. सबहीं नचावत राम गोसाई	भगवतीचरण वर्मा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं.1971)
49. समय एक शब्द भर नहीं है	धीरेन्द्र अस्थाना सं.1981
50. सर्पगन्धा	शैलेष मटियानी, (सं.1979)
51. सामर्थ्य और सीमा	भगवतीचरण वर्मा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं.1968)
52. सीता	रमणिका गुप्ता अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 1996)

53. सीधी सच्ची बातें — भगवतीचरण वर्मा
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं.1968)

54. सुखदा — जैनेन्द्र कुमार
(सं.1952)

55. सूरज का सातवाँ घोड़ा — धर्मवीर भारती
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
(छठा.प्र. 1970)

56. सेवासदन — प्रेमचन्द
सरस्वति प्रकाशन, इलाहाबाद (सं. 1968)

आलोचनात्मक ग्रंथ

57 आज का हिन्दी उपन्यास — डॉ. इन्द्रनाथ मदान
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं.1966)

58. आधुनिक हिन्दी उपन्यास — नरेन्द्र मोहन
दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, (सं. 1975)

59. आधा गाँव- एक आलोचनात्मक अधययन — डॉ. दिलशाद जिलानी
दिलप्रीत पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली,
(सं. 1994)

60. आज की राजनीति और भ्रष्टाचार — नरेन्द्र मोहन
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, (सं. 1997)

61. आधुनिक हिन्दी साहित्य — डॉ.रामगोपालसिंह चौहान
विनोद मंदिर, आगरा (सं.1965)

62. अधूरे साक्षात्कार — नेमिचन्द्र जैन
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, (सं.1989)

63. आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास — अतुलवीर अरोडा
पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ (सं. 1974)

64.	आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य	इन्द्रनाथ मदान राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1978)
65.	आधुनिकता के पहलू	विपिन कुमार अग्रवाल लोकभारती प्रकाशन, (सं. 1972)
66.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डॉ. वार्ष्णेय हिन्दी परिषद, प्रयाग(सं. 1954)
67	उपन्यासकार गुरुदत्त और कृतित्व	डॉ. मनमोहन सबगल नटराज प्रकाशन, दिल्ली,(सं. 1967)
68.	उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियाँ	डॉ. सुरेश सिन्हा रमा प्रकाशन, लखनउ, (सं. 1965)
69.	उपन्यास का शिल्प	डॉ. गोपाल राय बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, (सं. 1973)
70.	उपन्यास स्थिति और गति	चन्द्रकान्त बांदिवडेकर पूर्णोदय प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1977)
71.	उपन्यास स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2, (सं. 1997)
72.	कांग्रेस का इतिहास	डॉ. पट्टाभिसीतारामय्या सस्ता साहित्य मण्डल, संक्षिप्त (1958)
72.	कुछ विचार	प्रेमचन्द सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद,(सं. 1965)
73.	द्वितीय महायुद्दोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय राजगोपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,(सं. 1973)
74.	नई समीक्षा नये संदर्भ	नगेन्द्र नेशनल पब्लिकेशिंग हाउस, दिल्ली, (सं. 1964)
75.	नई कहानी की भूमिका	कमलेश्वर शब्दाकार, टर्कमेन्ट गेट, दिल्ल, (सं. 1978)

76.	प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास	डॉ. प्रतापचन्द्र शर्मा साहित्य सदन, देहरादून, (सं. 1967)
77	प्रेमचन्द एक विवेचन	इन्द्रनाथ मदान राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1964)
78.	प्रेमचन्द घर में	श्रीमती शिवरानी देवी।
79.	भारत एक बदलती दुनिया	बी.मी. लैम्ब, अनुवादक- भगवान सिंह ओरिएन्ट ओंगमन्स, कलकत्ता।(सं. 1867)
80.	भारत में लोकतंत्र-	बलराज मधोक भारतीय साहित्य सदन, दिल्ली, (सं. 1971)
81.	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	डॉ. रामविलास शर्मा वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, (सं. 1989)
82.	मार्क्सवाद ओर उपन्यासकार यशपाल	डॉ. पारसनाथ मिश्र
83.	महिला उपन्यासकार	डॉ. मधु सन्धु निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, (सं. 2000)
84.	राष्टीय नवजागरण और साहित्य	वीरभारत तलवार हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, (सं. 1993)
85.	डॉ. रागंय और उनके उपन्यास	डॉ. लालसाहब सिंह अनुपमा प्रकाशन, बम्बई, (सं. 1978)
86.	व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	डॉ. पुरुषोत्तम दुबे अनुपमा प्रकाशन, मुंबई, (सं. 1976)
87	समकालीन हिन्दी उपन्यास - कथ्य विश्लेषण	डॉ. प्रेमकुमार इन्दु प्रकाशन, (प्र.सं. 1983)
88.	समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका	डॉ. रणवीर रांगा मानस प्रिंटिग प्रेस, (सं. 1986)
89.	साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी	डॉ. किरण बाला अन्नपूर्ण प्रकाशन, (सं. 1990)

90.	सामाजिक प्रतिबद्धता और नववामपंथी कविता	डॉ. टि.ए. बाबु. सूर्य भारती प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली (प्र.सं. 1998)
91.	साहित्य शिक्षा	संपा. पद्मलाल बख्शी हेमचंद मोदी प्रकाशन, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई.
92.	साहित्य का मूल्यांकन	डब्ल्यू.बी.वर्सफोल्ड, अनु. रामचंद तिवारी विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, (सं. 1964)
93.	स्ती विमर्श	रमणिका गुप्ता शिल्पयान प्रकाशन, दिल्ली, (सं.2004)
94.	स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकायें	ऊर्मिला गुप्ता राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1960)
95.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास	डॉ. कांती वर्मा रामचन्द्र एण्ड कं. दिल्ली, (सं. 1966)
96.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास का मूल्य संक्रमण	डॉ. हेमेन्द्र पानेरी संधी प्रकाशन, जयपुर (सं. 1974)
97	हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा	रामदरश मिश्र राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1968, पुन.मु.1992)
98.	हिन्दी उपन्यास का विकास	मधुरेश सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, (सं. 1998)
99.	हिन्दी उपन्यास	सुरेश सिन्हा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, (संशोधित.1972)
100.	हिन्दी उपन्यास साहित्य	ब्रजरत्नदास हिन्दी साहित्य कुटिर, बनारस,
101.	हिन्दी उपन्यास पहचान और परख	इन्द्रनाथ मदान लिपि प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1975)

102. हिन्दी उपन्यास — सुषमा धवन
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 1961)

103. हिन्दी उपन्यास परंपरा और प्रयोग — डॉ. सुभद्रा
प्रकाशन 1974

104. हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ — शशिभूषण सिंहल
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, (सं. 1970)

105. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना — डॉ. अमरसिंह लोधा
अमर प्रकाशन, अहमदाबाद, (द्वि.सं. 1985)

106. हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद — निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी (संपा)
नेशनल पब्लिकेशिंग हाउस, दिल्ली, (सं. 1987)

107 हिन्दी उपन्यास - सृजन और सिद्धान्त — नरेन्द्र कोहली
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, (सं. 1989)

108. हिन्दी उपन्यास का पुनरावतरण — धनंजय वर्मा
प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्र.सं. 2003)

109. हिन्दी उपन्यास की दिशाएँ — डॉ. वेदप्रकाश अमिदाभ
गोविन्द प्रकाशन, मथुरा, उ.प्र.,(प्र.सं. 2003)

110. हिन्दी उपन्यास - सार्थक की पहचान — मधुरेश
स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, (प्र.सं. 2002)

111. हिन्दी उपन्यास का इतिहास — गोपालराय
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,(प्र.सं. 2002)

112. हिन्दी उपन्यास का विकास — मधुरेश
सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, (सं.1998)

113. हिन्दी उपन्यास सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाऔर स्वरूप — प्रभा वर्मा
क्लासिकल पब्लिकेशिंग कंपनी,नई दिल्ली, (सं. 1990)

114. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन — ब्रजभूषण सिंह आदर्श
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, (सं. 1970)

115. हिन्दी उपन्यास सिद्धांत और समीक्षा — माखनलाल शर्मा
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली,(सं. 1966)

116. हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास — डॉ. सुरेश सिन्हा
अशोक प्रकाशन, (प्र.सं. 1965)

117 हिन्दी उपन्यास स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम — डॉ. तिवारी
तक्षशिला प्रकाशन, (प्र.सं. 1985)

118. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डॉ. नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, (सं. 1973)

119. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास — बच्चन सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, (सं. 2000)

120. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 — जानमंडल लिमिटेड
वाराणसी, दूसरा सं. 1963

121. हिन्दी साहित्य का स्वातंत्र्योत्तर विचारात्मक गद्य — डॉ. सिस्टर क्लेमेंट मेरी स्मृति प्रकाशन
इलाहाबाद

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

122. After Nehru Who — Wells Hangen (1963)

123. An advanced HIstory of India — R.C. Majumdar
Macmillan and Company, London, 1949

124. Approaching Naxalbari — Marius Damas
1st Edition, Radical Impression,
43 Beniatola lane,Calcutta- 700009

125. History of Freedom movement in India - Vol.IV — Dr. Tara Chand
Publication Division of
Information & Broadcasting Government of india.

126. Democratic Theory — Maye (1960)

127.	Dictionary of Political Science	Joseph Dunet Introduction (1984)
128.	Indian Economics	K.K. Devthale & G.C. Singh (1960)
129.	India - Since 1857	Sudhansu Bimal Mukjharji Bharathiya Vidhyabhavan (Pbn)
130.	Nehru-The first sixty years	Dorothy Normon(Volume-I) Asfa Publications
131.	Novel and the people	Ralf Fax (1972)
132.	Political Science- A Philosophical Analysis	Vernan Van Dalk (1973)
133.	Political Trends in India	Balraj Madhok (1971)
134.	Power : A New Social Analysis	Russll Bartrand 1938 (London)
135.	The Politics of Aristotle	Earnest Barker (1967)
136.	The Last days of British Raj	Leonard (1959)
137.	Religion and Ethics	Dr. Radhakrishnan National Publishing House New Delhi, 1970.
138.	Study in a Dying Culture	Christopher Coudwell (1968)
139.	The Novels of Mulk Raj Anand: Athematic study	Pramila Paul B.R. Publishing Company, Delhi, 1984.
140.	Struggle for freedom-Vol ; XI	Pub. Bharathiya Vidya Bhavan.
141.	The Judgement	Kuldeep Nayyar Vikas Publishing House Pvt.Ltd. New Delhi. (1977)
143.	Freedom At Midnight	Dominic Lapier& Lari Colins D.C. Books Kottayam (1984)

मलयालम संदर्भ ग्रन्थ

144. स्त्रियुम् समूहवुम	डॉ. मंजुला. के.वी कैरली प्रकाशन, कण्णूर, केरल, (प्र.सं.2005)
145. स्वातंत्र्यत्तिन्टे कथा	पी.के. वारियर डी.सी.प्रकाशन, कोट्टयम, केरल
146. नव भारत शिल्पिकल	के.पी.केशव मेनन् मातृभूमि प्रिन्टिंग एन्ड पब्लिशिंग कंपनी. लि. कोषि़क्कोड. (प्र.सं. 1963)

पत्र - पत्रिकाएँ

147	आजकल	अगस्त 1976
148.	कदम	जुलाई अक्तूबर
149.	दस्तावेज़	88. जुलाई-दिसंबर 2000
150.	पहल	61, अप्रैल - जून, 1999
151.	वसुधा	58, अप्रैल जून, 2003
152.	वागर्थ	65, नवंबर 2000
153.	समीक्षा	अक्तूबर-दिसंबर -1994
154.	हस्तक्षेप	राष्ट्रीय सहारा - 18, जून 1997

UNIVERSITY LIBRARY * KOCHI * Cochin - 682 022 COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

...🕮...